चरित

॥ ओ३म् ॥

विरजानन्द-चरित

मूल बंगला लेखक
श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय

हिन्दी अनुवादक
पं० घासीराम एम. ए., एल. एल. बी.

सम्पादक
प्रो० भवानी लाल भारतीय
सेवानिवृत्त प्रोफेसर तथा अध्यक्ष दयानन्द शोध पीठ,
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

प्रकाशक
श्री गुरु विरजानन्द स्मारक समिति ट्रस्ट
करतारपुर–144801, ज़िला जालन्धर (पंजाब)

प्रकाशक :
श्री गुरु विरजानन्द स्मारक समिति ट्रस्ट,
करतारपुर—144801, ज़िला जालन्धर।

मुद्रक :
संस्कृति मुद्रणालय,
जालन्धर।

प्रथम संस्करण—२०४६ विक्रमाब्द
१९९२ ईस्वी
मुद्रित प्रतियाँ—२०००
मूल्य—१४.०० (चौदह रुपये मात्र)

ओ३म्

कुलपिता—श्री पं० हरिवंश लाल शर्मा

श्री हरिवंश लाल शर्मा (हरवंस लाल) ने दो फरवरी 1920 ईस्वी को जिला जालन्धर के रोडकाकलां नामक ग्राम में श्रीमती लाल देवी की कुक्षि से जन्म ग्रहण किया। आप का यज्ञोपवीत संस्कार आर्य सामाजिक सत्संगों के अन्त में गाई जाने वाली यज्ञ प्रार्थना "यज्ञ रूप प्रभो हमारे......" के लेखक श्री पंडित लोकनाथ जी तर्क वाचस्पति ने सम्पन्न कराया था। आप के पिता श्री पंडित कर्म चन्द शर्मा कराची की ही एक आर्यसमाज में प्रधान रहे। पंडित लोकनाथ जी भी वहीं पर भजनोपदेशक थे। अत: जब श्री हरिवंश लाल शर्मा का ललतोकलां जिला लुधियाना के श्री पंडित हंस राज शर्मा की सुपुत्री श्रीमती राज कुमारी शर्मा के साथ विवाह सम्बन्ध बना तो श्री पंडित लोक नाथ जी तर्क वाचस्पति भी आप का विवाह संस्कार करवाने के लिये कराची से आये।

श्री हरिवंश लाल शर्मा अपनी शिक्षा पूरी करने के उपरान्त कराची में ही रायल एयर फोर्स में कार्यरत हुये। लगभग 10 वर्ष कार्य करने के पश्चात् 1945 ईस्वी में आप का स्थानांतरण एयरफोर्स लाहौर में कर दिया गया। पाकिस्तान बनने के बाद 1947 ईस्वी में आप कानपुर एयरफोर्स में आ गये। परन्तु 1948 ईस्वी में आप ने यह नौकरी छोड़ दी तथा जालन्धर में ही साईकिल पार्ट्स बनाने का एक छोटा सा उद्योग आरम्भ किया। जिसे आप ने अपने अपरिमित परिश्रम, अद्भुत कार्य दक्षता तथा कर्मठता से हैंडटूल्ज उद्योग में बदल कर विशाल रूप दे दिया। जो विजय साईकिल एण्ड स्टील इन्डस्ट्रीज तथा एच. आर. फारजिन्ग प्राईवेट लिमिटेड के नाम से जालन्धर में प्रसिद्ध है।

श्री शर्मा जी को आर्य समाज के संस्कार पैतृक सम्पदा के रूप में ही मिले। अत: आर्य समाज की गतिविधियों में बढ़ चढ़ कर भाग लेना स्वाभाविक ही था। जालन्धर में आप का व्यापार जैसे-2 उन्नत होता गया वैसे-2 ही आप की दान वृत्ति भी बढ़ती गई। "गुरुकुलों की उन्नति से ही वैदिक संस्कृति की रक्षा सम्भव है"—ऐसा आप का दृढ़ निश्चय अत: जालन्धर तथा अन्यत्र की आर्य समाजों के वार्षिक उत्सवों में जहां आप

प्रकाशकीय

वर्ष 1991 की बात है। 30 सितम्बर से 6 अक्तूबर तक श्री गुरु विरजानन्द स्मारक समिति ट्रस्ट का 36वां वार्षिक उत्सव मनाया गया। आर्यजगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० भवानी लाल भारतीय को यज्ञब्रह्मा के रूप में आमन्त्रित किया गया। 6 अक्तूबर रविवार को उत्सव का प्रमुख आकर्षण 'श्री गुरु विरजानन्द सम्मेलन' आयोजित हुआ। दण्डी विरजानन्द को श्रद्धांजलि देते हुए इसी सम्मेलन में भारतीय जी ने बंगाल के एक ऐसे व्यक्तित्व की चर्चा की, जिसका आर्य समाज से दूर का भी सम्बन्ध नहीं था, परन्तु जिसने अपने जीवन का अधिकांश भाग आर्य समाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द तथा उनके गुरुवर स्वामी विरजानन्द सरस्वती के जीवन की खोज एवं लेखन में होम कर दिया था। वे स्वनाम धन्य हैं बाबू देवेन्द्र नाथ मुखोपाध्याय। मूल बंगला में लिखे गये इस जीवन चरित का हिन्दी अनुवाद श्री पं० घासीराम जी ने किया। प्रवचन में ही भारतीय जी ने सुझाव रखा कि "वर्तमान में श्री पं० मुखोपाध्याय द्वारा प्रणीत स्वामी दयानन्द चरित तो कहीं कहीं उपलब्ध होता है, परन्तु उन द्वारा लिखित दण्डी विरजानन्द सरस्वती का जीवन चरित आज उपलब्ध नहीं है। निःसन्देह दण्डी विरजानन्द के स्मारक के रूप में यह ट्रस्ट सर्वथा नि.शुल्क गुरुकुल चलाकर शिक्षा प्रसार द्वारा दण्डी विरजानन्द जी की स्मृति को तथा वैदिक संस्कृति एवं संस्कृत को अक्षुण्ण बनाये रखने का सराहनीय प्रयास कर रहा है। प्राप्त सूचना के अनुसार 100 ब्रह्मचारियों के शिक्षा, भोजन, दूध, आवास आदि पर 40-45 हजार रुपया दान द्वारा इकट्ठा करके यह ट्रस्ट प्रति माह खर्च करता है। इस गुरुकुल के कारण ट्रस्ट की सर्वत्र ख्याति है। मैं समझता हूँ कि निःशुल्क गुरुकुल चलाने जैसे व्यवसाध्य इस महान् कार्य के साथ साथ ट्रस्ट यदि दण्डी विरजानन्द के इस दुर्लभ जीवन चरित को भी प्रकाशित कर देवे तो अत्युत्तम होगा"। ट्रस्ट के प्रधान उदारमना, धर्मनिष्ठ, महर्षि दयानन्द के अनन्य भक्त श्री पं० हरिवंश लाल शर्मा ने मंच पर ही इस प्रस्ताव को स्वीकार करते हुए अपने विशाल हृदय का परिचय दिया।

इस जीवन चरित के पुनरीक्षण एवं सम्पादन का भार भी स्वयं भारतीय जी ने अपने कन्धों पर लेकर अपना अमूल्य निष्काम सहयोग दिया है। भारतीय जी ने स्थान-स्थान पर आवश्यक पादटिप्पणियां देकर तथा परिशिष्ट आदि जोड़कर इसे और अधिक उपयोगी बना दिया। भारतीय जी द्वारा किये गये इस महत्वपूर्ण कार्य के लिए ट्रस्ट उनका हृदय से आभारी है। अब यह जीवनचरित मुद्रित होकर सुन्दर साज सज्जा के साथ आपके कर कमलों में है। ट्रस्ट इसके मुद्रण में कदापि समर्थन होता यदि इसी गुरुकुल के स्नातक तथा अवैतनिक आचार्य डा० नरेश कुमार शास्त्री, वेद-व्याकरण-साहित्याचार्य इसके प्रूफ रीडिंग आदि समस्त कार्यभार को न सम्भालते। उन्होंने यह कार्य बड़ी तत्परता एवं निष्ठा से किया, अतः वे हमारे साधुवाद के पात्र हैं।

मैं ट्रस्ट की ओर से शर्मा परिवार का भी मंगल कामनाओं सहित हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ, जिनके आर्थिक सहयोग से ट्रस्ट को यह पुस्तक प्रकाशित करने में सरलता हुई। हमें पूर्ण आशा है कि ट्रस्ट के गौरवपूर्ण पूर्वप्रकाशनों की भांति यह प्रकाशन भी पाठकों के लिए रुचिकर एवं उपयोगी सिद्ध होगा।

चतुर्भुज मित्तल
मन्त्री—ट्रस्ट एवं गुरुकुल

अनुक्रमणिका

(अ) सम्पादक का वक्तव्य ... १
(आ) ग्रन्थकार का परिचय ... ४
(इ) अनुवादक का परिचय ... ६
१. अवतरणिका १३
२. विरजानन्द का बाल्य जीवन १५
३. ,, संन्यासग्रहण और पठन-पाठन ... २०
४. ,, सोरोंवास २३
५. ,, अलवरवास २६
६. ,, अलवरत्याग और पुनः सोरोंवास ... ३३
७ मथुरा में पाठशाला का स्थापन और एक व्याकरण विषयक शास्त्रार्थ ... ३७
८. पाणिनिप्रचार ४८
९ अनार्षग्रन्थखण्डन और आर्षग्रन्थमण्डन ... ५४
१०. विरजानन्द की अध्यापनप्रणाली ... ६८
११ सार्वभौम सभा का प्रस्ताव ... ७३
१२. भारतवर्ष की सुधार प्रणाली में परिवर्तन ... ८०
१३. दयानन्द सरस्वती को भारतवर्ष के सुधार का भारार्पण ... ९४
१४. विरजानन्द-सङ्क्रान्त कुछ आख्यायिकाएं ... १००
परिशिष्ट (१) १०४
परिशिष्ट (२) १११
(३) पाद टिप्पणियां ... ११४
(४) दण्डी विरजानन्द का माथुर शिष्य मण्डल ... ११६
(५) पं० नवनीत चौबे के ब्रजभाषा पद ... १२०
(६) दण्डी विरजानन्द : साहित्य सूची ... १२२

सम्पादक का वक्तव्य

आर्य समाज के प्रवर्त्तक ऋषि दयानन्द के विद्या गुरु दण्डी स्वामी विरजानन्द की जन्मभूमि करतारपुर (दण्डी जी का जन्म समीपवर्ती गंगापुर नामक ग्राम में हुआ था जो वेई नदी के प्रवाह में नष्ट हो गया) में मैं एकाधिक बार गया हूं। वहां दण्डी जी की स्मृति में गुरु विरजानन्द स्मारक ट्रस्ट के तत्त्वावधान में गुरु विरजानन्द गुरुकुल विगत कई वर्षों से चल रहा है। इस गुरुकुल महाविद्यालय के आचार्य डा० नरेश कुमार शास्त्री व्याकरणादि अनेक शास्त्रों में व्युत्पन्न तो हैं ही, उन्होंने मेरे निर्देशन में पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय के दर्शन वाङ्मय पर उच्चतर शोध कर पंजाब विश्वविद्यालय से पी-एच. डी. की उपाधि भी प्राप्त की है।

जब मैं गत वर्ष दण्डी जी को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने के लिये करतारपुर गया और श्रद्धाञ्जलि सभा में मुझे बोलने का अवसर मिला तो मैंने एक प्रस्ताव रखते हुये कहा कि अगले वर्ष तक स्वामी विरजानन्द के उस जीवनचरित को पुनः प्रकाशित करना चाहिए जो वर्षों पूर्व देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय की अमर लेखनी से प्रसूत हुआ था। ट्रस्ट के उदारमना दूरदर्शी अधिकारियों महात्मा शिवमुनि जी वानप्रस्थी (सहसंचालक), श्री पं हरिवंशलाल शर्मा (प्रधान), श्री रोशन लाल गुप्ता (वरिष्ठ उपप्रधान), श्री चतुर्भुज मित्तल (मन्त्री) आदि द्वारा मेरे इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकारते हुये इस ग्रन्थ को सम्पादित करने का दायित्व भी मुझे ही सौंपा गया। परिणामतः यह सम्पादन (पाद टिप्पणी लेखन, परिशिष्ट प्रणयन तथा ग्रन्थकार एवं अनुवादक का परिचय लेखन आदि) कार्य केवल दो दिनों में ही समाप्त कर सम्पादकीय निवेदन लिख रहा हूं।

यों तो दण्डी जी के अनेक जीवनचरित अब तक प्रकाश में आये हैं किन्तु इनमें प्रमुख निम्न हैं—

१. पं० लेखराम द्वारा रचित—

स्वामी दयानन्द के जीवनचरित को लिखने का दायित्व जब पं० लेखराम को मिला तो उनके लिये यह आवश्यक हुआ कि वे श्री महाराज के गुरु दण्डी जी का भी जीवनचरित लिखते। उन्होंने इस कार्य को स्वशक्ति के अनुसार किया और स्वलिखित महर्षि दयानन्द के उर्दू जीवन चरित में, दण्डी जी का जीवन वृत्तान्त भी स्थान प्राप्त कर सका। इसे उर्दू तथा हिन्दी में पृथक् पुस्तकाकार भी प्रकाशित किया गया। ध्यातव्य है कि पं० लेखराम तो जीवन चरित की सामग्री का संचय करने के पश्चात् ही दिवंगत हो गये थे। इस महत्त्वपूर्ण कार्य को सुचारु रूप से सम्पादित पं० आत्माराम अमृतसरी ने ही किया था। इस उर्दू जीवन चरित को हिन्दी में अनूदित करने का श्रेय प्रयाग निवासी मुन्शी जगदम्बाप्रसाद वर्मा को है।

२. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा रचित—

देवेन्द्रनाथ ने स्वयं की शोध और गवेषणा के आधार पर जो विवेचना प्रधान विरजानन्द चरित लिखा वह उनके जीवन काल में तो नहीं छप सका, किन्तु उनके दिवंगत होने के दो वर्ष पश्चात् १९५९ ई० में प्रथम बार हिन्दी में ही प्रकाशित हुआ। मुखोपाध्याय जी ने पं० लेखराम के अनेक विचारों से जो अपनी असहमति प्रकट की है, उसे उन्होंने पादटिप्पणियों में उल्लिखित कर दिया है। प्रस्तुत संस्करण इसी ग्रन्थ का सम्पादित रूप है। वर्षों से यह अलभ्य था।

३. स्वामी वेदानन्द सरस्वती द्वारा लिखित—

उपर्युक्त दोनों जीवनचरितों को आधार बना कर, किन्तु स्वयं की मौलिक विवेचना तथा अनेक ऊहाओं से युक्त यह जीवनी २०११ वि० में प्रथम बार छपी। इसमें स्वातन्त्र्य संग्राम में विरजानन्द जी का योगदान जैसे विषय भी विवेचित हुये हैं। दयानन्द के दण्डी जी की पाठशाला का द्वार खटखटाने और भीतर से यह पूछे जाने पर कि कौन हो, दयानन्द का उत्तर देना—यही जानने के लिये तो आपकी शरण में आया हूं, जैसे कल्पनापूर्ण प्रसंगों की उद्भावना स्वामी जी ने ही की है। सत्य तो यह है कि दयानन्द सरस्वती विद्याध्ययन के लिये मथुरा की पाठशाला में आये थे न कि आत्म तत्त्व की जिज्ञासा के लिये। तथापि विषय को रोचक बनाने तथा नायक की छवि को प्रभविष्णु ढंग से चित्रित करने के कारण आलोच्य ग्रन्थ का विशिष्ट महत्त्व है।

४. श्री भीमसेन शास्त्री का विरजानन्द प्रकाश—

वैज्ञानिक शोध तथा जीवनचरित की आधारभूत सामग्री के संचय में विशेष श्रम करने के पश्चात् कोटा निवासी स्व० प्रो० भीमसेन शास्त्री ने दण्डी जी का खोजपूर्ण जीवनचरित लिखा जो ऋषि दयानन्द की दीक्षा शताब्दी के अवसर पर १९६९ ई० में प्रथम बार प्रकाशित हुआ। इस महत्त्वपूर्ण जीवनी को लिखने से पूर्व शास्त्री जी ने नवीन तथ्यों और नवीन जानकारी प्राप्त करने के लिये पर्याप्त श्रम किया। वे २०११ वि. में अलवर, भरतपुर, मथुरा, सोरों आदि उन स्थानों में गये जहां दण्डी जी ने निवास किया था। उन्होंने दण्डी जी के योग्य शिष्य पं० उदय प्रकाश के पुत्र पं० मुकुन्ददेव द्वारा लिखी गई दण्डी जी की उस जीवनी से भी भरपूर सहायता ली जो यद्यपि अप्रकाशित ही है, किन्तु जो शास्त्री जी को लेखक के भतीजे पं० सुधाधरदेव गोस्वामी ने उपलब्ध कराई थी। इस जीवनी में पूर्णतया तथ्यों की परख की गई है तथा तिथिक्रम का भी तर्कसंगत उल्लेख है। लेखक ने जीवन चरित को काशी काण्ड, सोकरव काण्ड, परिनिष्ठा काण्ड तथा सुन्दर काण्ड (मथुरा वास का आर्ष युग) नामक चार उल्लासों में विभक्त किया है। परिशिष्ट में दण्डी जी की व्याकरण विषयक कृतियों का भी परिचय दिया गया है। इस प्रकार प्रो० भीमसेन शास्त्री की यह कृति विरजानन्द के जीवनचरित साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। तथापि पूर्ववर्णित तीनों जीवनचरितों की महत्ता भी कम नहीं है।

देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के द्वारा रचित विरजानन्द चरित के इस सम्पादित संस्करण में पाठकों को निम्न विशेषतायें मिलेंगी—

(१) ग्रन्थारम्भ में लेखक तथा अनुवादक का विस्तृत परिचय।
(२) परिशिष्ट में विरजानन्द के जीवनी साहित्य की ग्रन्थसूची (Biblography)।
(३) दण्डी जी के शिष्टमण्डल की नाम सूची।
(४) दण्डी जी विषयक नवनीत चतुर्वेदी के ब्रजभाषा पद।
(५) लेखक की पाद टिप्पणियों से भिन्न ग्रन्थान्त में सम्पादक प्रदत्त टिप्पणियाँ।

इस प्रकार प्रस्तुत कृति को सर्वांगपूर्ण बना कर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने का मेरा यह एक विनम्र प्रयास है। गुरु विरजानन्द स्मारक ट्रस्ट के सुयोग्य प्रधान पं० हरवंश लाल जी शर्मा, मन्त्री श्री चतुर्भुज जी मित्तल, मान्यवर शिव मुनि जी तथा आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान श्री वीरेन्द्र जी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना आवश्यक है। ये सभी महानुभाव ट्रस्ट तथा उसके अन्तर्गत चलने वाली शैक्षिक एवं इतर प्रवृत्तियों को जिस प्रकार संरक्षण व प्रोत्साहन दे रहे हैं, वह सर्वथा श्लाघनीय एवं अनुकरणीय है। मैंने देखा है कि महर्षि दयानन्द के गुरु परमहंस परिव्राजकाचार्य महान् वैदुष्य समन्वित स्वामी विरजानन्द सरस्वती को प्रतिवर्ष श्रद्धा सुमन अर्पित करने के लिए करतारपुर के निकटवर्ती जालन्धर, अमृतसर, कपूरथला, लुधियाना, फगवाड़ा तथा पटियाला आदि नगरों से सहस्राधिक नर नारी गुरु भूमि में आते हैं और यथाशक्य अपनी भक्ति तथा श्रद्धा अर्पित करते हैं। मेरे जैसे अकिंचन के पास यद्यपि दण्डी जी महाराज की स्मृति में अर्पित करने के लिए कुछ गण्य वस्तु, पदार्थ या द्रव्य तो नहीं है, अतः दयानन्द की भांति लौंगें भी अर्पित करने में स्वयं को अक्षम पा कर मैं तो इन शब्द सुमनों को प्रस्तुत करके ही गुरुदेव का सश्रद्ध स्मरण करता हूँ।

रामनवमी २०४६ वि०
(चैत्र कृष्णा ६)

भवानीलाल भारतीय
संस्थापक अध्यक्ष,
दयानन्द अध्ययन संस्थान, जोधपुर।

ग्रन्थकार पं० देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय

राष्ट्रपुरुष स्वामी दयानन्द तथा उनके विद्या गुरु प्रज्ञाचक्षु दण्डी विरजानन्द के जीवन विषयक तथ्यों का गम्भीर अनुशीलन कर उन्हें ग्रन्थाकार रूप देने वाले बंगलालेखक देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय का निज का जीवनवृत्त स्वल्प मात्रा में भी प्राप्त नहीं होता। जिस प्रकार अंग्रेज़ी के महान् साहित्यकार, समालोचक तथा शब्दकोश प्रणेता डा० सैमुअल जॉनसन की विस्तृत गवेषणापूर्ण जीवनी लिखने वाला जेम्स बॉसवेल अपने इस कार्य के द्वारा अमर हो गया, इसी प्रकार विलुप्त-प्राय: वैदिक अध्ययन को पुनरुज्जीवित कर विश्व में आर्य धर्म और वैदिक संस्कृति का पुनः प्रचार करने वाले ऋषि दयानन्द के जीवन विषयक इतस्ततः विकीर्ण सूत्रों, स्रोतों तथा उपादानों को अनन्य निष्ठा, महत् अध्यवसाय तथा अहर्निश अनुसंधान के पश्चात् संसार के समक्ष प्रस्तुत कर देवेन्द्रनाथ ने भी स्वयं को अमर बना दिया। सर्वतोभावेन साधनशून्य होने पर भी केवल दयानन्द के प्रति अनन्यनिष्ठा तथा उनके सार्वभौम मन्तव्यों के प्रति श्लाघा भाव रखने के कारण ही मुखोपाध्याय महाशय ने यह पुण्य सारस्वत कार्य किया। यदि वे इस कार्य में सर्वात्मना नहीं लगे होते तो दयानन्द सरस्वती का लोकविश्रुत जीवनवृत्त जिज्ञासुओं को अनुपलब्ध ही रहता।

कहा जाता है कि सुप्रसिद्ध बंगला लेखक तथा इतिहासकार स्व० रमेशचन्द्र दत्त के अनुरोध से देवेन्द्रनाथ ने स्वामी दयानन्द का जीवनलेखन आरम्भ किया। आर्यसमाज कलकत्ता के प्रधान राजा तेजनारायणसिंह की आर्थिक सहायता से देवेन्द्र बाबू ने देश के उन सभी भागों का भ्रमण किया जहाँ से उन्हें दयानन्द के जीवन वृत्त को एकत्र करने में सहायता मिलती। इस भ्रमण में वे पंजाब से महाराष्ट्र तथा गुजरात से बंगाल तक प्राय: उन सभी स्थानों में गये जिनमें दयानन्द ने पदार्पण किया था। इस प्रकार अपने चरित्रनायक के जीवन विषयक विच्छिन्न सूत्रों का संग्रह करने में उन्हें अकथनीय प्रयास करने पड़े। दयानन्द के समकालीन और उनके सम्पर्क में आये अनेक व्यक्तियों से मिलने, पत्र व्यवहार द्वारा जानकारी लेने के अतिरिक्त उन्होंने दयानन्दकालीन पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित तद् विषयक संदर्भों, रिपोर्टों तथा समाचार सूचनाओं का भी संग्रह किया। इस प्रकार जीवनी लेखक विषयक आवश्यक सामग्री एकत्र कर वे इसके लेखन में प्रवृत्त हुए।

देवेन्द्रनाथ आजीवन ब्रह्मचारी रहे। उनके निधन की तिथि (१० जनवरी, १९१७ ई०) का ज्ञान होने पर भी उनकी जन्मतिथि, जन्मस्थान, माता-पिता, शिक्षा, कार्य आदि के बारे में हमारी कुछ भी जानकारी नहीं है। उनके लेखन

कार्य के बारे में जो कुछ सूचनायें मिलती हैं उनसे ज्ञात होता है कि दयानन्द जीवन चरित लेखन में प्रवृत्त होने के पहले उन्होंने ईसाई सन्त पॉल (St. Paul) का जीवनचरित लिखा था। १८९६ में दयानन्द चरित का प्रथम भाग राजा तेज नारायण सिंह प्रदत्त आर्थिक सहायता से जब प्रकाशित हुआ तो बंगाल में इसका सर्वत्र स्वागत हुआ। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में इस ग्रन्थ के बारे में प्रशंसापूर्ण सम्मतियां प्रकाशित हुईं। इण्डियन मिरर ने अपने १९ अप्रैल १८९६ के अंक में दयानन्द चरित की समीक्षा प्रकाशित करते हुए इसे स्वामी दयानन्द का प्रथम व्यवस्थित जीवनचरित बताया। लेखक के विषय में प्रशंसापूर्ण उद्गार प्रकट करते हुए उक्त पत्र ने लिखा—"The author is already too well known as a Bengali writer of repute to need any recommendation at our hands His life of Saint Paul in Bengali is a well written book but his Dayanand Charit is a master piece embodying as it does the fruits of his ripe scholarship, nature judgment and original research in this elaborately written introduction which prefaces the biography and treating the great illustrious subject of his work in a right appreciative manner. His style is chaste and glorious."

अर्थात् लेखक बंगाल के एक जाने माने सम्मानित साहित्यकार हैं, जिनका परिचय देना अनावश्यक है। उनकी सेंट पॉल की जीवनी एक अच्छी पुस्तक है, किन्तु दयानन्द चरित को तो उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति मानना चाहिए। इससे उनकी परिपक्व विद्वत्ता, निर्णायक शक्ति तथा मौलिक शोधप्रवृत्ति की जानकारी मिलती है। जीवनी के पहले प्राक्कथन के रूप में उन्होंने जो अवतरणिका लिखी है उससे इस महत्त्वपूर्ण विवेचनीय विषय की गरिमा का ज्ञान होता है। उनकी शैली परिमार्जित तथा ओजस्विनी है।

दयानन्दचरित पर इसी प्रकार की प्रशंसापूर्ण सम्मतियां महाबोधि सोसाइटी की पत्रिका (जनवरी १८९७) तथा लाहौर की आर्य पत्रिका (३० मई १८९६ तथा २० जून १८९६) ने भी लिखीं। इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद १९१२ में पं० घासीराम ने किया और वह उसी वर्ष प्रकाशित हो गया। बंगला में इसके दो संस्करण और छपे तथा हिन्दी अनुवाद के भी २-३ संस्करण निकले। परन्तु देवेन्द्रनाथ की दयानन्द विषयक गवेषणा इस पुस्तक के साथ ही समाप्त नहीं हुई थी। इस पुस्तक के विज्ञापन (३ फाल्गुन १३०४ बंगाब्द) में ही उन्होंने स्वीकार किया था कि किन्हीं घटनाओं की पूर्वापरता के सम्बन्ध में उन्हें संदेह रहा है तथा स्वामी दयानन्द को समझने का यह उनका प्रथम प्रयास ही है। साथ ही उन्होंने यह भी संकेत दिया था कि भविष्य में वे स्वामी जी के जीवनवृत्त को सुचारु एवं सर्वांगपूर्ण सम्पादित करने में विशेष उद्योग करेंगे। इसी प्रतिज्ञा के अनुसार वे एक बार पुनः दयानन्द विषयक जानकारी एकत्र करने के लिए स्वप्रान्त से बाहर निकले और उन सभी स्थानों को छान मारा जहां-जहां दयानन्द सरस्वती का पदारोपण हुआ

था। उनका इस बार का भ्रमण विशेष फलदायी रहा तथा उन्होंने स्वामी जी के जीवन विषयक अनेक अज्ञात तथ्यों की भी जानकारी प्राप्त कर ली। विशेषतः स्वामी जी के जन्म स्थान और पिता के नाम के विषय में उन्हें पक्के तथ्य मिले। इन्हें एक लेख के रूप में उन्होंने गुरुकुल कांगड़ी की मुख्य पत्रिका वैदिक मैगजीन के फरवरी १९१६ के अंक में The Birth place and Parentage of Swami Dyanand शीर्षक से छपाया।

महर्षि का जीवनवृत्त संकलित करने के लिए वे उत्तर प्रदेश के मेरठ, फर्रुखाबाद आदि उन नगरों में गये जिनसे स्वामी दयानन्द का विशेष सम्बन्ध रहा था। वहां के आर्यसमाजियों से उन्होंने अपने ग्रंथ को प्रकाशित कराने के लिए आर्थिक सहायता भी चाही। किन्तु न तो किसी आर्यसमाज ने उनको सहायता देने का आश्वासन दिया और न कोई आर्य पुरुष ही उस कार्य के लिए आगे आया। मेरठ में उनकी भेंट पं० घासीराम से हुई तो मुखोपाध्याय जी ने दयानन्द के जीवनचरित्त लेखन विषयक अपने प्रयासों की चर्चा करते हुए आर्यसमाज की एतद् सम्बंधी उदासीनता एव उपेक्षा को भी अत्यन्त निराशा के साथ व्यक्त किया। हमारी तो यह दृढ़ धारणा है कि यदि मुखोपाध्याय जी को पं० घासीराम का सम्पर्क एवं सहयोग नहीं मिला होता तो ऋषि दयानन्द विषयक यह महती साहित्य निधि या तो नष्ट हो जाती या हिन्दी भाषी पाठकों के लिए सर्वथा अलभ्य ही रह जाती।

यहां यह भी ध्यातव्य है कि देवेन्द्रनाथ पहले ब्रह्मसमाज के अनुयायी थे किन्तु स्वामी दयानन्द के ग्रंथों को पढ़ कर ही वे ऋषि के मन्त्र एवं वैदिक धर्म के अनुगामी बन गये थे। यद्यपि उन्होंने किसी आर्यसमाज की सदस्य पंजिका में अपना नाम अंकित नहीं कराया था, किन्तु दयानन्द विषयक उनकी अनन्य आस्था का प्रमाण उनके इस कथन से मिलता है जिसमें उन्होंने कहा था कि अवसर आने पर यदि दयानन्द के सिद्धान्तों के लिए उन्हें अपनी गर्दन भी कटानी पड़े तो वे उसके लिए भी सदा तैयार रहेंगे। यह था मुखोपाध्याय महाशय का ऋषि के प्रति अनुपम श्रद्धा भाव।

जैसा कि हमें पं० घासीराम द्वारा सम्पादित इसी पुस्तक की भूमिका से ज्ञात होता है कि दयानन्द विषयक समग्र सामग्री को एकत्र करने के बाद मुखोपाध्याय जी ने काशी में रहकर ग्रन्थ लेखन आरम्भ किया। अभी वे भूमिका तथा चार अध्याय (दण्डी विरजानन्द की पाठशाला में दयानन्द का अध्ययन) ही लिख पाए थे कि उन पर पक्षाघात का आक्रमण हुआ और १९१७ की १० जनवरी को उनका निधन हो गया। मुखोपाध्याय जी द्वारा संकलित सामग्री का ग्रन्थ लेखन में प० घासीराम ने किस प्रकार उपयोग किया वह अन्यत्र (पं० घासीराम का परिचय) लिखा जा चुका है।

देवेन्द्रनाथ यद्यपि स्वामी जी के उक्त बृहत् जीवनचरित को स्वलेखनी से पूरा

नहीं कर सके, किन्तु जितना कुछ लिख सके वही प्रत्येक दृष्टि से अपूर्व है। विशेषतः इस ग्रंथ की भूमिका तो दयानन्द के महनीय व्यक्तित्व तथा कृतित्व की विवेचना और आलोचना के कारण साहित्य की अनमोल निधि है। उन्होंने भूमिका में ही इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया है कि वे दयानन्द को अन्य महापुरुषों की अपेक्षा क्यों अधिमान देते हैं और ऋषि के व्यक्तित्व की किन विशेषताओं ने उन्हें दयानन्द का भक्त बनने के लिए विवश किया। इस भूमिका की ही भांति प्रथम प्रकाशित दयानन्दचरित की अवतरणिका का भी विशेष महत्व है। इन दोनों के सम्मिलित अध्ययन से ही वे विराट् व्यक्तित्व तथा लोक भावन चरित्र का विस्पष्ट परिचय मिलता है।

दयानन्द चरित का निबंधन करके ही देवेन्द्रनाथ की लेखनी ने विश्राम नहीं लिया। उनके एतद् विषयक कुछ अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए, जिनका विवरण इस प्रकार है—

१. आर्य संस्कारक दयानन्द—

हिन्दू समाज के आदर्श सुधारक के रूप में दयानन्द की विवेचना करने वाला यह ग्रन्थ सर्वप्रथम १८९९ ई० में बंगला में प्रकाशित हुआ। स्वामी अनुभवानन्द ने इसका हिन्दी अनुवाद किया और गोविन्दराम हासानन्द ने इसका प्रथम बार प्रकाशन १९७३ वि० में किया।

२. स्वामी दयानन्द के स्थानादि का निर्णय—

यह शोधपूर्ण ग्रन्थ देवेन्द्रनाथ ने काशी में लिखकर १० पौष १३३३ बंगाब्द के दिन समाप्त किया। इसकी विज्ञप्ति (प्राक्कथन) में मुखोपाध्याय महाशय ने लिखा, "स्वामी दयानन्द का देहान्त हुए मात्र ३३ वर्ष ही हुए हैं। इतने स्वल्प समय में ही स्वामी जी के अनुयायियों ने उनके नाम पर बहुत सी मिथ्या बातें प्रचलित कर दी हैं और आज भी कर रहे हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि स्वतंत्र, निष्पक्ष शोध तथा आलोचनापूर्ण अध्ययन के बिना ऐतिहासिक भ्रान्ति एवं असत्य बातों को दूर नहीं किया जा सकता। ये दोनों आवश्यक विषय (Independent and impartial research तथा critical study) आर्यसमाज से सैंकड़ों कोस दूर रहे हैं, यह अत्यन्त खेदजनक है। चाहे जो हो, किन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती के उन्नत, पवित्र तथा स्वदेशाभिमानपूर्ण जीवन को मिथ्या आरोपों तथा अनावश्यक क्षेपकों से बचाने के संकल्प, तथा भविष्य की प्रजा को अवास्तविक बातों से सावधान करने के लिये ही इस रुग्णता तथा शय्या पर पड़े रह कर भी बहुत कष्ट उठाते हुए मैंने इस ग्रन्थ को प्रकाशित किया है।" देवेन्द्रनाथ के इस कटु किन्तु वास्तविक कथन पर कुछ भी टिप्पणी करना अनावश्यक है। स्वामी दयानन्द के जीवन में अनेक मिथ्या, अलीक तथा भ्रान्तिपूण बातों को जोड़ने का सिलसिला अभी बंद नहीं हुआ है। जन्मस्थानादि निर्णय का गुजराती अनुवाद राजकोट निवासी त्रिभुवनदास दामोदरदास गढिया ने किया।

गुर्जर गिरा के प्रसिद्ध कवि नान्हालाल दलपतराम के उपोद्घात के साथ यह ग्रन्थ १९२० में राजकोट से ही प्रकाशित हुआ। हिन्दी में इसका सार संक्षेप घासीराम जी ने किया और महर्षि के बृहत् जीवनचरित के द्वितीय भाग के अन्त में परिशिष्ट रूप में दिया।

३. विरजानन्द चरित

देवेन्द्रनाथ की यह अन्तिम महत्त्वपूर्ण कृति है। दयानन्द के जीवन एवं कार्यों की समालोचना करते समय ही देवेन्द्रनाथ ने यह अनुभव किया था कि दयानन्द में ऋषित्व का विकास तभी सम्भव हुआ, जब उन्हें प्रज्ञाचक्षु विरजानन्द की विमल प्रज्ञा और आर्ष मेधा दाय भाग के रूप में प्राप्त हुई। यदि विरजानन्द दयानन्द के हृदय में वेद निष्ठा, आर्ष ग्रन्थ प्रामाण्य, वैष्णवादि सम्प्रदायों की अनर्थकारी शिक्षा, मूर्तिपूजा की अवैदिकता जसे विचारों का संक्रमण नहीं करते तो यह असम्भव ही था कि दयानन्द धर्म, समाज और राष्ट्र के लिए कुछ श्रेयस्कर कार्य करने की स्थिति में होते। फलतः वे इस जराजीर्ण, अंध सन्यासी के फौलादी व्यक्तित्व के प्रति भी आकृष्ट हुए जो अपन युग का प्रबल तार्किक, प्रतिवादी-भयंकर शास्त्रार्थी, अपूव वयाकरण तथा विमल आर्ष मेधा का अनन्य उपासक था। परिणामस्वरूप उनकी लेखनी से दण्डी महाराज का लोकपावन चरित भी सृष्ट हुआ। यह दूसरी बात है कि वह मुखोपाध्याय जी के जीवनकाल में बगला में भी नहीं छप सका। इसे आर्य जाति अपना सौभाग्य मानेगी कि यह ग्रन्थ पाण्डुलिपि रूप में स्व० पं० घासीराम जी को प्राप्त हो गया और उहोंने इसे अनूदित कर प्रकाशित किया।

निश्चय ही दयानन्द और विरजानन्द के जीवन लेखन में देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय का योगदान अनन्य, अपूर्व तथा चिरस्मरणीय है। इन ऋषि कल्प महापुरुषों की जीवन गाथा को लिख कर उनकी लेखनी कृतकृत्य हुई। ❀

ग्रन्थ के अनुवादक पं० घासीराम

यदि मेरठ के पं० घासीराम ने उद्योग नहीं किया होता तो ऋषि दयानन्द एवं दण्डी विरजानन्द के महत्त्वपूर्ण बंगला जीवनचरितों के लेखक देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय का कृतित्व एवं तद्‌विषयक पुरुषार्थ हिन्दी भाषी पाठकों के समक्ष नहीं आ पाता। यह पं० घासीराम का ही प्रयास था, जिसके फलस्वरूप देवेन्द्र बाबू के लोक विश्रुत ग्रन्थों की चर्चा आर्य समाजी क्षेत्रों में हुई और पाठक उनकी साहित्य साधना का परिचय प्राप्त कर सके।

पं० घासीराम का जन्म मेरठ नगर में लाला द्वारिकादास के यहाँ कार्तिक पूर्णिमा वि० सं० १९२९ को हुआ। लाला द्वारिकादास स्वामी दयानन्द के मेरठ निवासकाल के समय उनके सम्पर्क में आकर आर्यसमाजी बने थे और उन्होंने मूर्तिपूजा का परित्याग कर दिया था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा उर्दू और फारसी में हुई। तत्पश्चात् अंग्रेजी पढ़ने के लिये वे हाई स्कूल में प्रविष्ट हुए। यहाँ उनका परिचय पं० गंगाप्रसाद (रिटायर्ड जज) से हुआ और दोनों मे मैत्री हो गई। १८८७ में गंगाप्रसाद और घासीराम ने मिल कर आर्य डिबेटिंग क्लब की स्थापना की। इसमें आर्य सिद्धान्तों पर भाषण और वाद-विवाद होते थे। मैट्रिक करने के पश्चात् वे आगे पढ़ने के लिये आगरा चले गये। यहाँ भी उन्हें पं० गंगाप्रसाद एवं श्री ज्वाला प्रसाद जैसे आर्य विद्यार्थियों का संसर्ग मिला। अब ये आर्य मित्र सभा चलाने लगे।

१८९४ में घासीराम ने विश्वविद्यालय में सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर बी. ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके कारण उन्हें स्वर्ण पदक मिला। छात्रवृत्ति तो उन्हें लगातार मिल ही रही थी। १८९६ में दुहरा पाठ्यक्रम लेकर पं० घासीराम ने एम० ए० (दर्शन) और एल० एल० बी० की परीक्षाएँ उत्तीर्ण की। शिक्षा समाप्त कर वे १८९६ में ही जोधपुर के जसवन्त कालेज में दर्शन एवं तर्कशास्त्र के प्राध्यापक पद पर नियुक्त हो गये किन्तु १९०१ में जोधपुर में विषूचिका रोग फैल जाने के कारण पिता के आदेश से उन्होंने नौकरी छोड़ दी और मेरठ चले गये।

मेरठ आकर घासीराम जी ने वकालत करना आरम्भ किया। इसमें उन्हें पर्याप्त यश तो मिला किन्तु वे यथेच्छ द्रव्योपार्जन नहीं कर सके। इसके दो कारण थे। प्रथम वे मितभाषी थे और उनमें वाक्‌पटुता का अभाव था। ये दोनों बातें वकीलों के लिए दुर्गुण मानी गई हैं। द्वितीय, वे मुकद्दमा लड़ने वालों को पारस्परिक सद्‌भाव दिखाते हुए आपस में ही मामला निपटा लेने का परामर्श देते थे। १९२९ ई० तक वे इस व्यवसाय में रहे। इसी वर्ष वे मेरठ नगरपालिका के सदस्य चुने गये तथा चार वर्ष तक रहे। वे नगरपालिका शिक्षा बोर्ड के अध्यक्ष भी थे।

आर्यसमाज की संगठनात्मक तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों में पं० घासीराम की प्रारम्भ से ही रुचि थी। वे मेरठ आर्यसमाज के प्रधान रहे तथा आर्य

प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रांत के वर्षों तक प्रधान एवं उपप्रधान निर्वाचित हुए। आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश (तब इस प्रान्त का नाम पश्चिमोत्तर प्रदेश था) में साहित्य प्रकाशन का विभाग १८९५ में ही स्थापित हो गया था। ३० नवम्बर १९३४ को पं० घासीराम का निधन हो गया। उनकी स्मृति में उक्त सभा के साहित्य विभाग का नाम पं० घासीराम साहित्य विभाग कर दिया गया।

पं० घासीराम की साहित्य साधना—

पं घासीराम का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के दयानन्द चरित (१८९४ में प्रकाशित) का हिन्दी अनुवाद तथा उनके द्वारा बृहत् दयानन्द चरित तैयार करने के लिये एकत्र की गई सामग्री के आधार पर मुखोपाध्याय महाशय द्वारा अधूरे छोड़े गये दयानन्द सरस्वती के जीवनचरित को पूरा करना था। दयानन्द चरित का पं० घासीराम कृत अनुवाद १९१२ में भास्कर प्रेस मेरठ से छपा। कालान्तर में इसे गोविन्दराम हासानन्द ने भी प्रकाशित किया। जब देवेन्द्र बाबू ने कई वर्षों तक समस्त भारत में भ्रमण कर स्वामी दयानन्द की जीवन घटनाओं के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सामग्री एकत्र की और उसके आधार पर महर्षि सर्वांगपूर्ण बृहत् जीवनचरित लिखने के लिए काशी में आकर लेखन कार्य आरम्भ किया तो मात्र चार अध्याय लिखने के पश्चात् १० जनवरी, १९१७ को उनका असामयिक निधन हो गया। यह समाचार जब पं० घासीराम को मिला तो १९१७-१८ में वे स्वयं काशी गये और तत्कालीन डिप्टी कलेक्टर श्री ज्वालाप्रसाद की सहायता से उस सामग्री को अधिकृत किया जो देवेन्द्रनाथ ने दयानन्द जीवन-चरित के उपादान रूप में संगृहीत की थी। यह सामग्री अत्यधिक अव्यवस्थित रूप में थी। जैसा कि स्वयं पं० घासीराम ने महर्षि के स्वसम्पादित बृहत् जीवनचरित प्रथम भाग की भूमिका में लिखा है—"यह सामग्री विचित्र दशा में थी। सैंकड़ों छोटे बड़े कागज़ के टुकड़ों, नोट बुकों, पत्रों, पोस्टकार्डों, समाचार पत्रों की कतरनों के रूप में थी जो कहीं पेंसिल से, और कहीं स्याही से बंगाली अथवा अंग्रेजी अक्षरों में लिखी हुई थी। मैंने पहले उन सबको पढ़ा, फिर आर्यभाषा में उनका अनुवाद किया और फिर उन्हें एक क्रम से लिखा।" यह ग्रन्थ १९३३ ई० में दो भागों में प्रकाशित हुआ। इस प्रकार देवेन्द्रनाथ के अधूरे छोड़े कार्य को तत्परता, अध्यवसाय एवं निष्ठा के साथ पूरा करना पं० घासीराम का ही कार्य था। मुखोपाध्याय महाशय ने स्वामी दयानन्द के विद्या गुरु दण्डी विरजानन्द का भी एक महत्त्वपूर्ण जीवन-चरित बंगला में लिखा था। यह ग्रन्थ बंगला में भी छप नहीं सका, कारण कि १९१७ में देवेन्द्र बाबू के दिवंगत हो जाने पर इस ग्रन्थ को प्रकाश में लाने का पुरुषार्थ कौन करता ? सौभाग्य से इसकी पाण्डुलिपि पं० घासीराम के हाथ लग गई। उन्होंने १९१९ में इसे अनूदित कर आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त से प्रकाशित कराया। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी जीवनचरित का सम्पादित नवीन संस्करण है।

गीता का पद्यानुवाद, दयानन्द सरस्वती कृत ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका का अंग्रेजी अनुवाद, महात्मा नारायण स्वामी के ईशोपनिषद् भाष्य का अंग्रेजी अनुवाद, भक्ति सोपान, वेदसुधा-ईश्वर स्तुति-प्रार्थना विषयक १०० वेद मंत्रों का भाषार्थ। ❀

भूमिका

श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के नाम से आर्य-जनता सुपरिचित है। वह उन लोगों में थे, जो केवल ऋषि दयानन्दकृत ग्रन्थों को पढ़ कर ही ऋषि के भक्त हो गए थे और ब्राह्म-धर्म को छोड़ कर वदिक धर्मावलम्बी बन गये थे। ऋषि के महत्त्व और उनके सुधार-कार्य के गौरव को जितना उन्होंने अनुभव और हृदयङ्गम किया था, उतना उनमें से भी बहुत कम लोगों ने किया होगा, जो आर्य समाज के जलवायु में पले हैं। उन्होंने अपने जीवन का उद्देश्य ऋषि की एक बृहज्जीवनी लिखने और ऋषि की महत्ता को भारतवासियों के हृदय पर अङ्कित करने को ही बना लिया था। सन् १८९४ में उन्होंने एक लघु जीवनचरित ऋषि का बंगला में लिखा था, जो हमारी समझ में वास्तव में जीवनचरित कहलाने के योग्य है। उसका आर्यभाषानुवाद 'दयानन्दचरित' के नाम से कई वर्ष पूर्व छपा था, परन्तु आर्य जनता ने उसकी जैसे चाहिए थी वैसी गुणग्राहकता न की और उसका दूसरा संस्करण न छपने पाया। इसके पश्चात् उन्होंने ऋषि के स्वलिखित जीवनवृत्तान्त का बंगला अनुवाद प्रकाशित किया और एक लघु पुस्तक 'आदर्श संस्कारक दयानन्द' के नाम से बंगला में लिखी जिसका आर्यभाषा में अनुवाद होकर आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रान्त की ओर से छप चुका है। आज हम उक्त महोदय के लिखे हुए स्वामी विरजानन्द सरस्वती बंगला जीवनचरित का आर्यभाषानुवाद पाठकों को भेंट करते हैं। दुःख है कि यह अनुवाद उनके अन्तिम ग्रंथ का अनुवाद है। अब उनकी ओजस्विनी लेखनीझरित रस का आस्वादन करना पाठकों को नहीं मिलेगा, क्योंकि वह अब इस लोक में नहीं हैं। सबसे अधिक दुःख यह है कि वह ऋषि की वृहज्जीवनी को जिसकी सामग्री उन्होंने बरसों के लगातार परिश्रम से एकत्र की थी, न लिख सके।

स्वामी विरजानन्द के जीवनचरित के विषय में हम कुछ नहीं कहना चाहते। पाठक स्वयं उसके दोष-गुण देख लेंगे। हाँ इतना अवश्य कहेंगे कि वह पूरी खोज के साथ लिखा गया है। एक बात और कहना चाहते हैं। लेखक महोदय ने पण्डित लेखरामलिखित विरजानन्दचरित के कुछ अंशों की बड़ी कड़ी समालोचना की है। उनमें से हम केवल दो घटनाओं का उल्लेख करना चाहते हैं। बाबू देवेन्द्रनाथ कहते हैं कि यह घटना कि एक दिन दण्डी जी ने स्वामी दयानन्द को पीटा था और स्वामी दयानन्द उनके लिए यमुना से जल भर कर लाया करते थे और दुबारा यह घटना कि दण्डी जी ने एक पत्थर को भट्टोजी दीक्षित का नाम देकर रख छोड़ा था और नवागत विद्यार्थियों से दण्डी जी उस पत्थर पर पादप्रहार कराया करते थे सर्वथा निर्मूल है। इस विषय में हम इतना ही कहना चाहते हैं कि पण्डित लेखराम ऐसी

घटनाओं को अपनी ओर से गढ़ कर लिखने वाले लोग नहीं थे। अवश्य ही उन्होंने ये बातें किसी अभिज्ञ पुरुष से सुनी होंगी, जैसी श्री बाबू देवेन्द्रनाथ जी ने स्वयं कई आख्यायिकाएं अन्यों से सुनकर लिखी हैं। पण्डित लेखराम यदि जीवित होते तो वह बता सकते थे कि किस सूत्र से उन्हें ये बातें मालूम हुईं और फिर कहा जा सकता था कि कौन सा सूत्र अधिक विश्वस्त है। उपर्युक्त घटनाओं में ऐसी बात तो कोई नहीं जो उन्हें असम्भव बनाती हो। यह तो बाबू देवेन्द्रनाथ भी स्वीकार करते हैं कि दण्डी जी स्वभाव के तीव्र थे। यदि कभी उन्होंने दयानन्द विद्यार्थी को प्रहार कर भी दिया हो तो आश्चर्य ही क्या है। रही यह बात कि दण्डी जी के पास भृत्यादि थे और वह विद्यार्थियों से कोई सेवा न लेते थे और इस लिए यह मान लेना चाहिए कि दयानन्द ने न कभी पाठशाला के मकान में झाड़ू लगाई और न कभी वह दण्डी जी के लिए यमुना से जल भर कर लाए, हमारी समझ में ठीक नहीं जंचता। सम्भव है कि किसी समय विशेष पर भृत्य न रहा हो या किसी अन्य कार्य को कर रहा हो या दयानन्द स्वयं ही गुरुभक्ति से प्रेरित होकर जल ले आए हों और पाठशाला के स्थान में झाड़ू लगा दी हो और दण्डी जी कूड़े पर पैर पड़ जाने से क्रुद्ध होकर उन्हें मार बैठे हों। यह भी सम्भव है कि यह घटना दण्डी जी के सब शिष्यों को मालूम भी न हो। दूसरी घटना के विषय में भी हो सकता है कि वह ठीक हो और जिनसे बाबू देवेन्द्रनाथ ने उस के सम्बंध में पूछताछ की हो उन्होंने उसे इसी भाव से छिपाया हो कि उससे गुरुदेव की निन्दा होगी। हमारा वक्तव्य इतना ही है कि पण्डित लेखराम पर यह दोष लगाना कि ये घटनाएं उनकी स्वकल्पित हैं, ठीक नहीं है। हो सकता है कि वे ठीक हों और यह भी हो सकता है कि ठीक न हों, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि पण्डित लेखराम पर दोषारोपण करना किसी प्रकार ठीक नहीं है।

अनुवाद यथासम्भव बंगला पुस्तक के अनुकूल किया गया है, केवल दो स्थलों पर एक-एक वाक्य जो अनुचित-कटाक्षपूर्ण था छोड़ दिया गया है। बंगला पुस्तक अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है। आशा है कि सहृदय पाठक इस तुच्छ सेवा को स्वीकार करेंगे और अनुवाद की त्रुटियों को उपेक्षा की दृष्टि से देखेंगे।

मेरठ
१३-१२-१९१९ ई०

घासीराम एम० ए०
अनुवादकर्त्ता

❀ ओ३म् ❀

(१) अवतरणिका

आर्य भूमि की अधोगति हो गई है। आर्य सन्तान नाना व्याधियों के विकार से विपर्यस्त हो गई है। रोग के बाहुल्य और रोगजनित प्रकोप के प्राबल्य से हिन्दुओं के समाज रूपी देह का सर्वाङ्ग ही शीर्ण और विवर्ण हो गया है।

प्रश्न यह है कि हिन्दुओं का भाग्य किस समय से नीचा होना आरम्भ हुआ? और भारत के आकाश में किस दिन से अमावस्या रात्रि का सूत्रपात हुआ? आर्य जाति का कोई इतिहास नहीं है। इसलिए संशय रहित होकर इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया जा सकता। तब भी स्थूल रूप से इतना कहा जा सकता है कि जिस दिन से गौतम बुद्ध ने काशी* में आकर अपना स्वोद्भावित और मनःकल्पित "धर्मचक्र" चलाया उसी दिन से भारत प्रान्त में काल मेघ का संचार हुआ। उसी दिन से हिन्दुओं के समाजरूपी शरीर में जिसकी वर्णाश्रमादि से रक्षा होती चली आई थी, अनेक रोगों ने प्रवेश करना आरम्भ कर दिया। और उसी दिन से आचार, अनुष्ठान, शास्त्र, धर्म, आशा, उद्देश्य में हिन्दू अपने आदर्श से क्रमशः च्युत होने लगे।

यह बात किसी किसी पाठक को बहुत ही असत्य और अप्रीतिकर जान पड़ेगी। परन्तु कुछ भी हो बात है ठीक!

भारत के इतिहास में बौद्ध धर्म के विस्तार से दण्डी विरजानन्द के आविर्भाव काल तक स्थूल रूप से २२०० वर्ष होते है।

यह बात नहीं है कि हिन्दुओं को बौद्ध मत से उत्पन्न हुए रोगों ने ही दबाया है। अन्यान्य मत-मतान्तरों से उत्पन्न हुए रोगों ने भी हिन्दुओं को समय समय पर विशेष रूप से उपद्रवयुक्त और स्वास्थ्यहीन किया है। यहां यह प्रश्न हो सकता है कि क्या इन सारे २२०० वर्षों में हिन्दू केवल रोग पर रोग ही भोगते चले आए हैं? क्या हिन्दू जाति को शुद्ध और संस्कृत करने के लिए किसी उपाय और यत्न का अवलम्बन नहीं किया गया?

इन प्रश्नों के उत्तर में अनेक मनुष्य कहेंगे कि हां, किया क्यों नहीं गया? प्रयत्न एक बार नहीं बहुत बार किया गया और बहुत दिनों से किया जा रहा है। आर्य जाति का उद्धार करने के लिए भारत भूमि में बुद्ध, शंकर आदि बहुत से चिकित्सकों का आविर्भाव हुआ है।

---

*यह लगभग २२०० वर्ष का समय हिन्दुओं के रोग भोग का समय माना जाता है। इस दीर्घ काल में हिन्दू नाना रोगों से आक्रान्त और नाना विकारों से विकृत और विपर्यस्त होते आ रहे हैं।

परन्तु बुद्ध, शंकर आदि की चिकित्सा क्या किसी अंश में भी फलीभूत हुई ? साधारणतः हम देखते हैं कि जब एक चिकित्सक की चिकित्सा फलवती हो जाती है तो रोगी की चिकित्सा के लिए दूसरे चिकित्सक को बुलाने की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु जब हम भारत भूमि के इतिहास में यह देखते हैं कि चिकित्सक के पश्चात् चिकित्सक, सुधारक के पश्चात् सुधारक चले आते हैं। बुद्ध के पीछे शंकर, शंकर के पीछे रामानुज, रामानुज के पीछे मध्वाचार्य, मध्वाचार्य के पीछे वल्लभाचार्य प्रभृति आचार्यों और कबीर, दादू, नानक, गौराङ्ग प्रभृति सुधारकों का आविर्भाव देखा जाता है तो यह समझ में आ जाता है कि उनमें से किसी की चिकित्सा सफल नहीं हुई, उनमें से किसी का यत्न भी भारत के रुग्ण समाज को सब प्रकार से स्वस्थ नहीं कर सका। या तो वह रोग का यथार्थ निदान करने में समर्थ नहीं हुए या जिस प्रणालो का उन्होंने अवलम्बन किया, वह रोगी की प्रकृति के अनुकूल नहीं पड़ी। यदि ऐसा न हुआ होता तो देश में पन्थों की सृष्टि क्यों होती ? सम्प्रदायों के ऊपर सम्प्रदायों का आविर्भाव क्यो होता ? अवतारों के ऊपर अवतारों का अभ्युदय क्यों होता ? यदि ऐसा न हुआ होता तो हिन्दुओं की नाड़ी ऐसी क्षीणावस्था में क्यों होतो ? हिन्दू जाति का जोवन इतना म्रियमाण क्यों होता ? हिन्दुओं का शरीर ऐसा शीतल और कम्पायमान क्यों होता ? हिन्दू समाज ऐसा मलिन क्यों होता ? हिन्दू धर्म ऐसा अपरिसेव्य क्यों रहता ? सच्ची बात तो यह है कि अब तक रोग की ठीक-ठीक से चिकित्सा हुई ही नहीं। उन उपर्युक्त २२०० वर्षों में हिन्दू चिकित्सा रहित ही रहे हैं, इसी कारण हिन्दुओं के रोग ने भीषण से भीषणतर रूप धारण कर लिया है। और आज हिन्दू मृत्यु-शय्या पर लेटे हुए जीवन के शेष निःश्वासों की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

पाठक ! तो क्या हिन्दू जाति का अस्तित्व मिट जायेगा ? क्या औषधि के अभाव, चिकित्सा के अभाव, चिकित्सक के अभाव से हिन्दू मर जायेंगे ? नहीं, नहीं, विधाता की इच्छा है कि हिन्दू संसार में अपने प्रनष्ट गौरव को पुनः स्थापित करें। देखो ! इसी कारण से संजीवनी औषधि हाथ में लिए हुए चिकित्सक आ रहा है। वह आरोग्य की अभय वाणी उच्चारण करता हुआ आगे बढ़ रहा है। देखो ! हिन्दू चिकित्सा की यथार्थ प्रणाली, हिन्दू सुधार का वास्तविक मार्ग दिखाने के संकल्प से ही पंजाब के एक छोटे से ग्राम में एक ब्राह्मण के घर में एक महापुरुष ने जन्म ग्रहण किया है।

(२) दण्डी विरजानन्द

हिन्दुओं के सुधार के पथ प्रदर्शक

बाल्य-जीवन

पंजाब की भूमि केवल शस्यसम्पदाशालिनी ही नहीं है, वह वीरवीरेन्द्र को भी उत्पन्न करने वाली है। केवल रणवीरों की ही नहीं, प्रत्युत धर्मवीरों की प्रसविनी है। रणजीत सिंह, हरिसिंह नलवा* पंजाब के रणवीर और नानक, तेगबहादुर और रामसिंह प्रभृति उसके धर्म वीर हैं। हम नहीं जानते कि पंजाब को छोड़कर भारत में और कहीं कभी इतने रणवीर और धर्मवीरों का समावेश हुआ है वा नहीं।

उल्लिखित वीरमाला के कारण तो पंजाब प्रख्यात है ही, परन्तु और एक अलोकसाधारण पुरुषरत्न को उत्पन्न करके पंजाब, गौरव के प्रोज्ज्वल मुकुट से सदा के लिए मण्डित हो गया है। वह पुत्ररत्न न तो रणवीरों के दल में है और न धर्मवीरों की मण्डली में। वह विद्या-वीर और व्याकरण-वीर है। स्यात् यह बात पाठकों को ज्ञात न होगी कि अष्टाध्यायी की अनुपम सूत्रमाला को रच कर जिन्होंने जगत् में अद्वितीय वैयाकरण का पद प्राप्त किया है, वह भी पंजाबी ही थे† और आश्चर्य का विषय है कि जिन्होंने अष्टाध्यायी की अनुपम सूत्रमाला की अलौकिक

---

*हरिसिंह नलवा—पंजाब केसरी रणजीतसिंह के अन्यतम सेनापति श्री हरिसिंह पेशावर प्रान्त के सेनाध्यक्ष थे। यह ऐसे अमित प्रतापी और रण दुर्म्मद वीर पुरुष थे कि रणभूमि में इनके आने का समाचार मात्र सुनने से ही विपक्षी पठान सेनागण भीत और भग्नोत्साह हो जाते थे। हरिसिंह के प्रताप से सारी पठान जाति इतनी भीत, इतनी विचलित और इतनी संकुचित हो गई थी कि जैसे आज कल योरुप की स्त्रियां अपने बच्चों को डराने के लिए बोना या नेपोलियन बोनापार्ट का नाम लेती हैं, वैसे ही पठान स्त्रियां दंगई बालकों को सीधा करने के लिए हरिसिंह का नाम लिया करती हैं। हरिसिंह अब भी पठानों के घर-घर में 'हव्वा' बनकर विराजमान हैं। पेशावर और लण्डीकोतल के बीच में जमरूद नगर में हरिसिंह की समाधि बनी हुई है।

†अष्टाध्यायी व्याकरण के कर्त्ता महर्षि पाणिनि का दूसरा नाम शालातूरीय था। वे शालातूर के रहने वाले थे, इसी हेतु उनको इस नाम से पुकारते थे। कोई कहते हैं कि वर्तमान लाहौर का प्राचीन नाम शालातूर था, कोई कहते हैं कि वह (कन्धार प्राचीन गान्धार) का एक नगर था। श्रीमान् गोल्डस्टकर के मत में शालातूर एक ग्राम था और वह सिन्ध नदी के तट पर अटक के पश्चिमोत्तर अंश में स्थित था। गोल्डस्टकर के मत में पाणिनि की माता का नाम दाक्षी था। इससे वह अनुमान करते हैं कि पाणिनि दक्ष वंश से थे। (Theodore Goldstucker's Literary Remains. Vol. I, p. 126) पाणिनी के जन्मकाल के सम्बन्ध में भी भिन्न-भिन्न मत देखने में आते हैं। किसी के मत में पाणिनि का जन्म ईसा से ३६० वर्ष पहले और किसी के मत में ईसा से ७०० वर्ष पहले हुआ था।

महिमा को पुनः स्थापित करके वर्तमान समय में वैदिक धर्म के विस्तार का सहज और निरापद मार्ग खोला, वे भी पंजाबी ही थे* ।

कर्त्तारपुर पंजाब का प्रसिद्ध नगर है। उसी प्रसिद्ध नगर के पास के एक अप्रसिद्ध ग्राम में विरजानन्द का जन्म हुआ। उस ग्राम का नाम गङ्गापुर है। गङ्गापुर बेई नाम की एक छोटी सी नदी के किनारे है। इस ग्राम में नारायणदत्त शारद शाखा के अन्तर्गत थे और उनका गोत्र भारद्वाज था। विरजानन्द इन्हीं नारायणदत्त के औरस पुत्र थे। हम यह नहीं जान सके कि विरजानन्द की माता का नाम क्या था ? विरजानन्द के जन्म काल को भी असंदिग्ध रूप से दूर नहीं किया जा सकता। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जिस समय सिक्खों के छोटे-छोटे शक्ति समूह आपस में मिलकर पंचनद के विशाल क्षेत्र में एक विशाल शक्ति का सूत्रपात कर रहे थे, जिस समय यमुनातट से लेकर झेलम की तट भूमि तक के सुविस्तृत भूखण्ड में विजयिनी सिक्ख सेना स्वाधीनता की पताका को उड़ाती हुई एक नये राज्य की नींव स्थापन कर रही थी अर्थात् १८वीं शताब्दी के अन्त में विरजानन्द का जन्म हुआ था† ।

यह ज्ञात नहीं कि विरजानन्द का पूर्व नाम क्या था[1] ? जिस नाम से वह

---

*मथुरा वासी एक वृद्ध व्यक्ति ने ग्रन्थकार से एक बार कहा था कि पंजाब में नूरमहल नामी एक कस्बा है अर्थात् एक पिण्ड (ग्राम) में विरजानन्द का जन्म हुआ था। अब नूरमहल को विरजानन्द का जन्मस्थान माना जावे या गङ्गापुर को हमारी अधिकतर इच्छा गङ्गापुर को ही विरजानन्द का जन्मस्थान मानने की होती है क्योंकि यह बात मथुरावासी पण्डित युगल किशोर की कही हुई है। जितना घनिष्ठ सम्बन्ध पं० युगल किशोर का विरजानन्द से था उतना और किसी का भी था या नहीं, हम नहीं जान सके। विरजानन्द के जीवन के अधिकतर काल और विरजानन्द के चरित्र को सविस्तार जानने का सुयोग उन्हें था, ऐसा अन्य किसी को नहीं था। ऐसी दशा में विरजानन्द के जन्मस्थान के विषय में पं० युगलकिशोर के कहने को न माना जाए और अन्य की बात को माना जाए ऐसा नहीं हो सकता।

†स्वामी विरजानन्द के अद्वितीय शिष्य श्रीमद्दयानन्द सरस्वती एक स्थान में लिख गए हैं कि जिस समय वह मथुरा में गुरुदेव के पास अध्ययनार्थ आये थे, उस समय गुरुदेव की आयु ८१ वर्ष की थी। (दयानन्द का स्वरचित जीवनवृत्त १५ बंगला अनुवाद) इसके पश्चात् ७-८ वर्ष जीवित रह कर सं० १९९५ के आश्विन में अथवा सन् १८३८ के सितम्बर वा अक्तूबर में विरजानन्द ने इस लोक का परित्याग किया। इससे सिद्ध होता है कि विरजानन्द का जन्म काल सं० १८३५ वा १८३६ अथवा १७७८ वा १७७९ ईस्वी है, किन्तु स्वर्गीय पं० लेखराम ने अपने उर्दू के दयानन्द-चरित (पृष्ठ ८८०) में लिखा है कि विरजानन्द का जन्म सं० १५८४ में हुआ था। लेखराम की इस पुस्तक के आधार पर जो अन्य दो चार पुस्तकें दयानन्द की जीवनी पर प्रकाशित हुए हैं, प्रायः उन सबमें ही विरजानन्द का जन्म काल सं० १८५४ माना गया है। यदि स० १७५४ को जन्म काल माना जावे तो यह मानना होगा कि विरजानन्द ७१ वर्ष तक जीवित रहे। परन्तु हम पहले ही दिखा चुके हैं कि विरजानन्द प्रायः ९० वर्ष तक जीवित रहे।

जन साधारण में परिचित हैं, वह उन के गुरु का दिया हुआ था, पिता का दिया हुआ नहीं था। इसके अतिरिक्त लोक में उन्हें और कई नामों से भी सम्बोधन किया जाता था। कोई उन्हें सूरदास स्वामी, कोई प्रज्ञाचक्षु स्वामी, कोई धृतराष्ट्र जी कहते थे। चक्षुहीन होने के कारण ही उन्हें यह सब नाम दिये गये थे। परन्तु ऐसा नहीं जान पड़ता कि उन्हें प्रज्ञाचक्षु नाम केवल चक्षुहीन होने के कारण ही दिया गया था। बाह्य चक्षु के अभाव में उनके भीतर के चक्षु इतने उज्ज्वलतर हो गये थे, उनके प्रज्ञाचक्षुओं की दीप्ति ने इतना प्रखरतर भाव धारण कर लिया था कि कोई भी विषय उनके सामने उपस्थित किया जाता था, वह उस विषय को तत्क्षण ही समाखे व्यक्ति के समान ही आयत्वीकृत कर लेते थे। इस अवस्था में उन्हें प्रज्ञाचक्षु नाम से अभिहित करना किसी अंश में भी असङ्गत नहीं था। अस्तु, इन कई नामों के अतिरिक्त वह मथुरा वासियों के निकट एक और नाम से साधारणतः प्रसिद्ध थे। जान पड़ता है, वह नाम मथुरा वासियों ने ही उन्हे दिया था और वे लोग उन्हें दण्डी जी कह कर ही प्रसन्नता लाभ करते थे।

विरजानन्द अन्धे थे, परन्तु जन्मान्ध नहीं थे। पाँच वर्ष की आयु में भयानक शीतला रोग से आक्रांत होने से उनके चक्षुरत्न जाते रहे थे। पाठक यह सहज में ही समझ सकते हैं कि पाँच वर्ष* की आयु वाले बालक का चक्षुहीन होना कितना दुःखदायक है।

विरजानन्द का विद्यारम्भ पिता के ही निकट हुआ था। उस समय उनकी आयु ८ वर्ष की थी। पिता के पास उन्होंने व्याकरण पढ़ना आरम्भ किया था। परन्तु शोक कि इस हतभाग्य बालक को अधिक दिन तक न पितृशिक्षा ही मिली और न पितृ स्नेह ही। क्योंकि थोड़ ही वर्षों के भीतर माता पिता दोनों ही उन्हें छोड़ कर संसार से बिदा हो गये। अब तक केवल चक्षुहीन ही थे परन्तु अब मातृ पितृ हीन भी हो गये। बालक विरजानन्द का दुःख और क्लेश इस समय से और भी अधिक बढ़ने लगा। माता पिता के वियोग के पश्चात् कुछ दिन भ्राता के स्नेहवश कट गये। परन्तु भाई[2] का आश्रय विरजानन्द के लिए प्रीतिकर होने के स्थान में पीड़ाकर होने लगा। इस कारण से वह चित्त में दुःखी रहने और जीवन के भावी कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विषय में चिन्तित होने लगे।

गृह त्याग और गायत्री साधन, जीवन के भावी कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्धारण वा स्वजीवन के लक्ष्य का स्थिरीकरण आदि इतने बड़े विषयों की आलोचना एक अपरिपक्व बुद्धि के तरुण वयस्क व्यक्ति के लिए कुछ अस्वभाविकता की परिच यक कैसे न हो? यह केवल तरुण जन के लिए ही अस्वाभाविक नहीं वरन् स्थल विशेष में युवक, प्रौढ़, यहाँ तक कि बृद्ध पुरुष के लिए भी अस्वाभाविक है। परन्तु यह

---

*कोई कोई कहते हैं कि विरजानन्द पांच वर्ष से भी कम आयु में चक्षुहीन हो गए थे। सम्भव है कि ऐसा ही हो क्योंकि स्वामी विरजानन्द को वस्तुबोध, वस्तुविशेष के आकारादि का बोध कुछ भी नहीं था। आदि में उन्हें सफेद, काला, लाल इत्यादि रंगों का ज्ञान नहीं था। जब तक बहुत छोटी आयु में आँखें न गई हों, तब तक ऐसी दशा नहीं हो सकती।

हमारे इस तरुण वयस्क अन्धे के लिए अस्वाभाविकता की परिचायक नहीं है। क्योंकि मनुष्य जाति के नायक बनने के लिए जिन्होंने जन्म लिया है, मानवीय चिन्ताओं का पथ प्रदर्शक होने के लिए ही जिनका अवतरण हुआ है, वह प्रौढ़ अवस्था में हों वा यौवन में वा तरुण में, सभी अवस्थाओं और सभी समयों में चिन्ताशील रहते ही हैं। जो अकेले होते हुए भी अपने कन्धों पर समस्त मानव मण्डली का भार ग्रहण करने के लिए आते हैं, यदि वे भी चिन्ताशील न हों तो क्या वे लोग चिन्ताशील होंगे, जो विलासी हैं और संसार की लालसाओं की वात्याय से विताड़ित हैं ?

बहुत चिन्ता और विचार के पीछे अन्त में विरजानन्द ने गृहाश्रम को त्यागना ही श्रेयस्कर समझा। एक दिन किसी से कुछ भी न कह कर आत्मीय स्वजन के सम्बन्ध के जाल को तोड़कर ऋषिकेश की ओर चल दिए*। उस समय ऋषिकेश का मार्ग जैसा दुर्गम था, वैसा ही दुःखपूर्ण भी था। इसलिए उन्हें ऋषिकेश के मार्ग में क्लेश सहने पड़े। उस समय विरजानन्द की आयु चौदह पन्द्रह वर्ष से अधिक न थी।

पाठक ! यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि इस चौदह पन्द्रह वर्ष के बालक ने ऋषिकेश की ओर किस उद्देश्य से प्रस्थान किया और शैलारण्यमय स्थान में आकर क्यों आश्रय लिया ? संसार के बन्धनों को तोड़ना तो श्रेयोजनक समझा था, परन्तु ऋषिकेश के भीषण प्रान्त में आकर क्यों उपस्थित हुए ? हमारा विश्वास है कि विरजानन्द ने इस विषय पर विचार किया होगा कि उसके समान अनाथ और अन्धा बालक संसार में रह कर संसार के किसी भी उपकार के काम में नहीं आ सकता। उन्होंने स्पष्ट रूप से जान लिया होगा कि संसार में पैर रखते ही उसकी दोनों आँखें जाती रहीं और उसे माता पिता हीन होना पड़ा तो संसार वा सांसारिक बन्धन उसके लिए किसी प्रकार भी सुखकर नहीं होगा। इन सब बातों को सोचकर ही उन्होंने स्थिर किया कि इस तुच्छादपि तुच्छ जीवन को यदि किसी श्रेष्ठ कार्य में लगा सकूं, यदि जीवन के परम पुरुषार्थ साधन में प्रवृत्त हो सकूं तो इससे अधिक लाभ वा उच्चतर भाग्य उनके लिए और क्या होगा ? यही सोचकर किसी न किसी ऐसे स्थान में जिसका वर्णन उन्होंने पढ़ा था, तपश्चर्या में ही देहपात करने की ही उनकी इच्छा हुई। हरिद्वार वा ऋषिकेश पञ्जाबियों के निकट बहुत प्राचीन काल से पुण्यप्रद और पवित्र स्थान माना जाता है। अब यह सहज में ही समझ में आ सकता है कि घर से निकल कर तपश्चर्य्या की अभिलाषा रखने वाला विरजानन्द क्यों ऋषिकेश की ओर प्रस्थित हुआ।

---

*कोई-कोई कहते हैं कि गृहत्याग के पीछे विरजानन्द ने किसी संन्यासी के पास कुछ पढ़ा भी था। हमारी सम्मति में यह बात ठीक नहीं जंचती, क्योंकि विरजानन्द के नाना स्थानों में घूमने की बात तो ऋषिकेश जाने के पीछे की है। हमारा यही विश्वास है।

जिस समय वह अन्धा ब्राह्मण बालक ऋषिकेश आकर पहुँचा, उस समय उसका उपनयन मात्र ही हुआ था। इसलिए तपश्चर्य्या के मार्ग वा प्रणाली के विषय में वह कुछ भी नहीं जानता था। उपनयन के समय उसने गायत्री मन्त्र की दीक्षा पाई थी और यह सुना था कि गरीयसी गायत्री की सिद्धि के बल से मनुष्य ब्रह्म तक का साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है। बालक के सरल हृदय पर यह बात दृढ़ रूप से अङ्कित हो गई थी। इसी कारण ऋषिकेश में आकर उसने एकमात्र गायत्री का अवलम्बन किया और अनन्यचित्त होकर वह गायत्री का जप करने लगा। प्रातःकाल, सायंकाल यहाँ तक कि कभी-कभी रात्रि के मध्य में भी वह गायत्री की सिद्धि में लगा रहने लगा। इसके अतिरिक्त प्रातःकाल स्नान के पश्चात् गङ्गा के निर्मल जल में कण्ठ तक निमज्जित होकर बहुत देर तक वह गायत्री का जप किया करता था। जप में ब्रह्मचारी विरजानन्द की ऐसी दृढ़ता देखकर ऋषिकेश के लोग आश्चर्यान्वित हो गये और यदि सब नहीं तो अधिकतर ऐसी-२ बातें कहने लगे कि यह तरुण तपस्वी बुद्धि वा देवजन स्पृहणीय किसी दुर्लभ वर की प्राप्ति के लिए ऐसा उग्र तप कर रहा है।

उस समय का ऋषिकेश इस समय के ऋषिकेश के समान निरापद् नहीं था। समय-समय पर वन के पशुओं के उपद्रव के कारण वहाँ के निवासियों को कष्ट होता था। कभी-कभी ऐसा होता था कि जङ्गली पशु रात्रि में आकर विरजानन्द की छोटी सी कुटिया को तोड़ जाते थे। ऋषिकेश वासी विरजानन्द प्रायः फल मूल खाकर दिन बिताते थे। कभी-कभी किसी मन्दिर वा क्षेत्र में जाकर भोजन कर आते थे। परन्तु इस प्रकार के विघ्न और बाधाओं के होते हुये भी विरजानन्द एक दिन के लिए भी अपने लक्ष्य से भ्रष्ट नहीं हुए। वह अपने संकल्प पर दृढ़ और स्वावलम्बित साधना पर अविचलित रह कर बहुत दिन तक कालयापन करते रहे। उन्हें जब इस प्रकार रहते हुए कुछ दिन बीत गये तो अकस्मात् एक दैवी घटना उपस्थित हो गई। विरजानन्द रात्रि में सोये हुए थे, सोते-सोते उन्हें एकदम ये शब्द सुनाई दिये "तुम्हारा जो कुछ होना था, वह हो चुका अब तुम यहां से चले जाओ।" इन शब्दों को सुनते ही विरजानन्द की निद्रा भङ्ग हो गई और वह एक भयभीत मनुष्य की नाईं उठकर इधर उधर ढूंढने लगे। थोड़ी ही देर में उन्हें मालूम हो गया कि उनके पास वा उनकी कुटिया में कोई मनुष्य नहीं है और कोई था भी नहीं। उन्होंने इन सुने हुए शब्दों को देववाणी करके ग्रहण किया* और जितनी बार भी उस वाणी पर विचार किया, उतनी बार वे चिन्तित हुए। अस्तु, ऋषिकेश छोड़ने के लिए ही उन्हें यह देवाज्ञा हुई है, यह समझ कर उन्होंने ऋषिकेश छोड़ने में विलम्ब नहीं किया, गायत्री की सिद्धि पर्यन्त भी ठहरना उचित न समझा और हताश होकर उन्होंने ऋषिकेश को त्याग दिया।

---

*इस प्रकार देववाणी की गणना आजकल बहुत लोग असंभव और सर्वथा उपेक्षणीय घटनाओं में करेंगे, परन्तु हम ऐसी देववाणियों के अस्तित्व में विश्वास करते हैं और बिना संकोच यह भी मानते हैं कि इस प्रकार की घटना अनेक साधु महापुरुषों के जीवन में हुई हैं और होती हैं।

(३) संन्यास ग्रहण और पठन-पाठन

विरजानन्द ऋषिकेश से कनखल आए। जिस समय की बातों का हमने उल्लेख किया है उस समय कनखल में एक प्रसिद्ध संन्यासी पूर्णाश्रम स्वामी निवास करते थे। पूर्णाश्रम की विद्या जैसी गंभीर थी उनका वैराग्य भी वैसा ही तीव्र था। सार यह है कि पूर्णाश्रम ने विद्या और वैराग्य में पूर्णत्व प्राप्त कर लिया था। अब भी जब कभी पूर्णाश्रम का ज़िक्र हो जाता है तो लोग उनके निःस्पृहत्व, उनके निर्विकारत्व, उनके विद्यागंभीरत्व पर आश्चर्य प्रकट करते हैं।

कनखल में कुछ दिन रहने के पश्चात् विरजानन्द ने प्रशंसित विद्या-वैराग्य-पूर्ण संन्यासी से दीक्षा ग्रहण की। यह पहिले ही कहा जा चुका है कि विरजानन्द नाम गुरु का दिया हुआ था। इसलिए यह बात माननी पड़ती है कि पूर्णाश्रम स्वामी[1] से संन्यास ग्रहण करने पर ही उन्हें यह नाम मिला था। कोई-कोई कहते हैं कि पूर्णाश्रम विरजानन्द ने स्वरचित शब्दकोश की समाप्ति पर अपना परिचय 'श्री गौरीशंकर-शिष्य'[2] कह कर दिया है। किन्तु इससे भी यह सिद्ध नहीं होता कि विरजानन्द ने पूर्णाश्रम से कुछ पढ़ा ही न था या कुछ शिक्षा ग्रहण ही नहीं की थी। पूर्णाश्रम यदि वास्तव में शिक्षा-गुरु न भी हों तो भी हमें इसमें संदेह नहीं है कि विरजानन्द ने उनके समीप कुछ दिन तक अध्ययन किया था। अस्तु, यहाँ एक प्रश्न स्वयं ही उठता है कि जब विरजानन्द दोनों आँखों से हीन थे तो वह पढ़ते किस तरह थे ?

जिन लोगों ने शरीर के साथ मन के सम्बन्ध तत्व पर सूक्ष्म रूप से विचार किया है, वे जानते हैं कि चक्षुकर्ण आदि शारीरिक इन्द्रियाँ जिस प्रकार सौहार्द सूत्र में आबद्ध हैं, स्मृति, मेधा, मननशीलता आदि मानसिक वृत्तियों के साथ भी वे वैसे ही समवेदना-सूत्र में ग्रथित हैं। यही कारण है, जो ऐसा देखने में आता है कि एक शारीरिक इन्द्रिय के अभाव वा विकृत होने की दशा में कोई दूसरी इन्द्रिय उसकी क्षति को पूर्ण करने के लिए स्वयं ही अग्रसर हो जाती है। इसी प्रकार मेधा, स्मृति वा अन्य मानसिक शक्तियाँ इसी उद्देश्य से अपनी शक्ति को बढ़ा देती हैं। यही कारण है कि गूंगे मनुष्य अधिकतर मननशील होते हैं, बहरे अधिकतर मेधावी होते हैं और जो चक्षुरत्न से वंचित वा हतभाग्य हैं, अन्य मनुष्यों की अपेक्षा उनकी स्मरण-शक्ति किसी न किसी अंश में बढ़ी-चढ़ी होती है। हम समझते हैं कि यह बात सबको स्वीकार होगी कि जीवन-यात्रा के निर्वाह करने के विषय में मेधा, स्मरणशक्ति वा मननशीलता श्रेष्ठ शक्ति हैं। केवल यही नहीं कि उनमें से हर एक श्रेष्ठ शक्ति है, बल्कि हर एक दूसरी श्रेष्ठ वा उत्कृष्ट शक्ति की उत्पादक है। यही हेतु है कि स्मरण-शक्ति की प्रखरता के साथ-साथ धारण-शक्ति की भी प्रबलता देखने में आती है। अस्तु, इस में संदेह नहीं हो सकता कि जब विरजानन्द अंधे थे तो उनकी स्मृति स्वतः ही प्रोज्ज्वल होनी चाहिए और इसीलिए उनकी धारण-शक्ति भी स्वभावतः ही प्रखरा होनी चाहिए। विशेषतः जबकि विरजानन्द ब्रह्मचारी अवस्था में कालातिपात करते थे तो ब्रह्मचर्य के प्रभाव से उनकी स्मृति

और धारण-शक्ति क्यों उज्ज्वलतर न हुई होगी ? ऐसा मानने में आपत्ति ही क्या है ? और यदि अध्ययन में, मनन में वा किसी सूक्ष्म विषय क अनुशीलन में स्मृति आदि शक्तियों की सहायता की विशेष कर आवश्यकता होती है तो इसमें आश्चर्य ही क्या हो सकता है, यदि विरजानन्द अंधे होते हुये भी अध्ययन में समर्थ हुए हों ? इस लिए समझ में आता है कि विरजानन्द का अंधापन उनके अध्ययन में बाधक नहीं हुआ।

कनखल में पढ़ने के साथ-साथ विरजानन्द पढ़ाने का काम भी करते रहे। जिस विषय को यह सुन-सुनकर सीखते थे उसी विषय को अवकाश के अनुसार दूसरों को भी सिखाते थे। इस प्रकार शिक्षित विषय के शिक्षादान करने से वह शिक्षित वा आयत्वीकृत विषय विरजानन्द के चित्त में और भी बद्धमूल हो जाते थे। विरजानन्द के पढ़ने- पढ़ाने की यही रीति थी और इसी रीति का अनुसरण करके उन्होंने अपने चित्त में ज्ञान की विपुल राशि का सञ्चय किया था।

कनखल में रहते-रहते ही स्वामीजी ने षड्लिङ्ग समाप्त कर लिया और नियम से कौमुदी की आवृत्ति सुनने लगे। इसी बीच में उन्होंने आवृत्ति-सूत्र-माला को अर्थसहित पढ़ कर अपनी अनन्य साधारण-शक्ति के प्रभाव से कौमुदी व्याकरण को कण्ठस्थ कर डाला। इस प्रकार कुछ दिन तक पढ़ने-पढ़ाने के पश्चात् विरजानन्द कनखल छोड़ने पर उद्यत हुए और गङ्गा क तट के अनेक स्थानों में भ्रमण करके अन्त में काशी में पहुचे।

तब की काशी और अब की काशी में बड़ा अन्तर है। यद्यपि काशी बहुत काल से विद्युष्मती प्रसिद्ध चली आती है परन्तु आजकल की काशी किसी अंश में भी वैसी विद्योज्ज्वला नहीं है जैसी उस समय की काशी थी। अस्तु, विरजानन्द किस उद्देश्य से काशी आए ? क्या विद्यार्थी रूप से ही उन्होने काशी के विद्याक्षेत्र में पदार्पण नहीं किया था ? जिन्हें उत्तर काल में विद्यावीर कह कर गण्य होना था, जिन्हें एक समय अपनी सुगंभीर विद्वत्ता के प्रभाव से भारतीय विद्वन्मण्डली में विस्मयोत्पादन करना था वह यदि विद्यार्थी बन कर वाराणसी में न आते तो और किस बात की इच्छा से आते ? काशी में आकर विरजानन्द ने व्याकरण की चर्चा आरम्भ की। हम यह पहले ही कह चुके हैं कि विरजानन्द के पठन और पाठन में पूर्वापर का सम्बन्ध था। सुतराम यहाँ भी उन्होंने पढ़ने* के साथ-साथ पढ़ाना भी आरम्भ कर दिया, परन्तु काशी में रह कर पढ़ने का काम क्या सहज है ? विरजानन्द के समान एक अंधे और उस पर अल्पवयस्क संन्यासी के लिए वाराणसी में आकर पढ़ाने के कार्य में नियुक्त होना जैसा कि विपुल साहसिकता का

---

*एक वार ओङ्कारनाथ तीर्थ के साथ एक संन्यासी का साक्षात्कार और वार्तालाप हुआ था। संन्यासी ने बातों बातों में विरजानन्द के सम्बन्ध में कहा था "वह बड़ा धूर्त[3] और बड़ा भारी विद्वान् था। उसने काशी में विद्याधर पण्डित के पास कुछ दिन तक पढ़ा था। अनेकों लोगों ने निषेध भी किया तो भी विद्याधर ने विरजानन्द को पढ़ाया था।"

परिचायक है वैसा ही विस्मयोत्पादक भी है। जब काशी नगर में यह समाचार फैला कि एक अल्पवयस्क अंधा संन्यासी वहां आया है और अध्येता बन कर जैसे स्वयं पढ़ता है वैसे ही अध्यापक बन कर अन्यों को पढ़ाता है तो इस बात को सुन कर विद्वन्मण्डली और विद्यार्थी-मण्डली दोनों ही विस्मयान्वित हो गईं। इस बात को सुन कर काशी के विद्यार्थी समाज में एक आन्दोलन मच गया। उनमें से कोई-कोई विरजानन्द को देखने के लिए आने लगे। कोई इस अपूर्व अध्यापक की अपूर्व पाठन-प्रणाली को सुनने के अभिप्राय से आगमन करने लगे, और कोई उनकी अलौकिक प्रतिभा से आकृष्टचित्त होकर किसी ग्रंथ का पत्रा लेकर उनके पास आ बैठे। इस प्रकार काशी में विरजानन्द के विद्यार्थियों की संख्या बढ़ने लगी। ऐसा सुना जाता है कि काशी में व्याकरण से भिन्न वह वेदान्त आदि विषयों की चर्चा किया करते थे। इस प्रकार काशी में कुछ काल क्षेपण करके विरजानन्द ने गया की ओर यात्रा की।

गया की यात्रा में दण्डी जी को एक विपत्ति का सामना करना पड़ा। अर्थात् मार्ग में डाकूओं ने उन पर आक्रमण किया। एक तो अन्धे और उस पर भी अकेले उन्होंने इस विपद् से मुक्ति लाभ करने के लिए बार-बार चिल्लाना आरम्भ किया। घटनावश ग्वालियर के एक सरदार कहीं पास ही ठहरे हुए थे। उन्होंने इस चीत्कार को किसी विपन्न जन को आर्त्तध्वनि समझ कर उसी क्षण अपने साथ के नौकर को उनके पास भेजा। नौकर के पहुंचते ही डाकू लोग भाग गए। अन्धे पथिक ने संघटित विपत्ति का आनुपूर्विक वृत्तान्त नौकर को संस्कृत में सुनाना आरम्भ किया। भला नौकर उसकी संस्कृतोक्ति का सिर-पैर क्या समझता? इस ओर सरदार एक विपन्न पथिक के मुख से संस्कृत के वाक्य सुन कर विस्मृत हुआ और मामले को अच्छी प्रकार जानने के लिए अपने साथ के पण्डित को वहां भेजा। थोड़ी ही देर की बातचीत से पण्डित को विरजानन्द की सारी अवस्था का पता लग गया और वह उन्हें साथ लेकर तुरन्त ही सरदार के पास जा पहुँचा। सरदार ने यह स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि आक्रान्त पथिक एक अन्धा संन्यासी है। पथिक के मुख से संस्कृत वाक्यों को सुन कर सरदार को कुछ आश्चर्य हुआ था, परन्तु पथिक को देखकर वह बहुत ही आश्चर्यान्वित हुआ। आये हुए संन्यासी के आदर सत्कार में सरदार ने कुछ भी त्रुटि नहीं की। और जिससे कि वह भयभीत वा किसी अंश में भी विचलित न हो इस विषय में सरदार उन्हें बहुत ही आश्रय प्रदान करने लगा। एक तो अतिथि फिर विपन्न अतिथि उस पर भी सन्यासी और विद्वान् संन्यासी। यह देख कर सरदार श्रद्धान्वित हो गया और वह नवागत अतिथि की सेवा-शुश्रूषा करने लगा। सरदार के आश्रय में कुछ दिन व्यतीत करके विरजानन्द ने फिर गया की ओर यात्रा की। जनोक्ति है कि गया में रहने के समय भी उन्होंने पठन-पाठन नहीं छोड़ा। ऐसा सुना जाता है कि गया से विरजानन्द ने कलकत्ता की ओर यात्रा की थी। अस्तु, इस प्रकार कुछ दिनों तक देशाटन का काम करके वह अनुगाङ्ग भूमि की ओर लौटे। इस प्रकार गङ्गा की वायु के स्निग्ध पवित्र हिलोरों का सेवन करते हुए वह जिला एटा के अन्तर्गत सोरों भूमि में आकर पहुँचे।

(४) सोरोंवास

हम समझते हैं, पाठकों को यह ज्ञात होगा कि संन्यासी परमहंसादि के लिए देशाटन व तीर्थ परिभ्रमण करना एक अवश्य अनुष्ठेय कार्य है। चाहे किसी संन्यासी विशेष के चित्त तीर्थों के माहात्म्य में श्रद्धा न भी हो, तीर्थों की पुण्यप्रदात्री शक्ति के विषय में उसे बहुत कुछ सन्देह हो तो भी वह देशाटन के कार्य को कभी भी असम्मानित न करेगा। यहां तक कि यदि यह कार्य असम्मानित वा अनुष्ठित रह जाय तो संन्यासी यह समझता है कि संन्यास धर्म की हानि हो गई। और इसीलिए ही विरजानन्द ने भी चक्षुरत्नहीन होते हुए भी काशी आदि नाना स्थानों में परिभ्रमण किया।

इस समय विरजानन्द के चित्त में सर्वोपरि एक यही सङ्कल्प था कि किसी कोलाहलशून्य, पवित्र और प्रीतिप्रद स्थान को ढूंढ कर, वहीं जीवन का शेष भाग यापन करें और उसके साथ ही ज्ञान-धर्म का अनुशीलन करके जीवन की सार्थकता सम्पादन करें। हमारे विचार में इसी सङ्कल्प से प्रेरित होकर ही वे गङ्गा तट प्रदेश की ओर लौटे थे और उस प्रदेश में सोरों को सर्वापेक्षा सिद्धि के अनुकूल समझ कर वहां आये थे।*

जो लोग पौराणिक धर्म-प्रणाली से सुपरिचित हैं वे यह जानते और मानते हैं कि इस ससागरा धरिणी के उद्धार के लिए 'अकायमव्रण.म्' परमात्मा समय-समय पर मत्स्य, कूर्म, वराह आदि की मूर्त्ति धारण करके अवतीर्ण हुए हैं। यह

---

*स्वामी विरजानन्द के सोरोंवास के सम्बन्ध में कुछ भिन्न-भिन्न सम्मतियां देखने में आती हैं। इस विषय में पण्डित चैनसुख शर्मा ने कासगज यज्ञशाला से ग्रन्थकार को जो कुछ लिखा है उसका सारांश यह है :—

विरजानन्द स्वामी हरिद्वार से गङ्गा-तट पर भ्रमण करते-करते गढ़ियाघाट में आकर कुछ दिन रहे। वहां से सोरों आकर अङ्गदराम और पण्डित बुद्धसेन को कौमुदी आदि व्याकरण पढ़ाये। सोरों से कासगंज आकर कुछ दिन रहे। इसके पश्चात् कासगज से सात कोस दूर पर महावट ग्राम में कुछ दिन ठहरे। अन्त में मथुरा की ओर चले गये। सुना है कि यह घटना सिपाही-विद्रोह (१८५७ ई०) से पहले की है।

पण्डितजी की उक्त लोकश्रुत विवरणमाला कहाँ तक सत्य है, यह हम कहने में असमर्थ हैं। परन्तु इसके साथ हमारा दो बातों में मतभेद है। प्रथम तो हम इसे ठीक नहीं समझते कि विरजानन्द हरिद्वार से सोरों आए थे; क्योंकि हरिद्वार, कनखल छोड़कर और काशी आदि घूमकर वह सोरों आए थे; दूसरे यह ठीक है कि वह सोरोंवास के पीछे मथुरा गए थे, परन्तु पहली बार के नहीं बल्कि दूसरी बार के सोरोंवास के पीछे गये थे।

कहना अनावश्यक है कि यह सोरों भूमि भी उपर्युक्त अवतारों में से एक अवतार की लीलाभूमि है। यह भूमि 'वाराही भूमि', 'शूकर भूमि' वा 'सोरों भूमि' के नाम से प्रसिद्ध भी इसी हेतु से हुई है कि यहाँ सच्चिदानन्द परमात्मा ने वराह का शरीर धारण करके अवतरण किया था। वराहावतार की लीलाभूमि होने के कारण यहां एक वराह-मन्दिर भी है और उस मन्दिर के अन्दर भूगर्भविदारी करालदंष्ट्रधारी व्यादितवदनशोभी एक वराह मूर्त्ति भी विराजती है। वराहावतार के लीलास्थल होने के कारण सोंरों तीर्थों की संख्या में परिगणित हो गया है। केवल इन के अतिरिक्त गंगा के सान्निध्य के कारण भी वह पुरातन काल से ही तीर्थ रूप से प्रसिद्ध है।*

सोरों भूमि के तीर्थ रूप से परिगणित होने का गङ्गा का सान्निध्य अन्यतर कारण है, परन्तु इस समय गङ्गा की धार का प्रवाह सोरों से कुछ हट गया है। हम नहीं कह सकते कि कितने काल से हट गया है। इस में भी सन्देह नहीं है कि जिस समय स्वामी विरजानन्द ने सोरों में पदार्पण किया था, उस समय भी गंगा का प्रवाह सोरों के प्रान्तवर्ती नहीं था इसी कारण वह सोंरों में नहीं रहे बल्कि सोरों के पास ही गड़ियाघाट गङ्गा के तट पर रहे। इससे भिन्न गडियाघाट साधु संन्यासी विरक्त वैरागी जन का आश्रयस्थल कह कर भी प्रसिद्ध था।

सोरों में अपने रहने आदि का प्रबंध करके विरजानन्द पठन-पाठनादि में प्रवृत्त हो गये। श्रवण-चिंतन आदि द्वारा जैसे वह स्वयं अपने को शिक्षित करने लगे वैसे ही अङ्गदराम[1], बद्धसेन को भी सिखाने लगे। सोरो के गड़ियाघाट पर रह कर ही उन्होंने व्याकरण का अनुशीलन आरम्भ किया। विरजानन्द ने पिता के पास कुछ दिन व्याकरण की शिक्षा पाई थी। कनखल में षड्लिंगादि पढ़ा था। काशी में रह कर भी व्याकरण की चर्चा की थी। सोरों में आकर भी पुनः उसी व्याकरण में संलग्न हो गये। क्या प्रज्ञाचक्षु व्याकरण को पुनः पुनः आलोचना इसी हेतु करने लगे कि वह अतीव दुरूह शास्त्र है? वा अपने को 'व्याकरणसूर्य' बनाने के लिए ही वे एकाग्रचित्त होकर अविच्छेद रूप से उसके अनुशीलन में प्रवृत्त हुए? कोई कारण हो, वह सोरों में रह कर भी व्याकरण के पढ़ने-पढ़ाने में ही संलग्न रहे। यहां पाठक एक बात को ध्यान में रक्खें कि उस समय विरजानन्द का व्याकरण विषय में कोई मतभेद नहीं हुआ था, कौमुदी आदि पर भी उन्होंने उस समय किसी अश्रद्धा का भाव प्रकट नहीं किया था। वह अङ्गदरामादि विद्यार्थियों को अक्षुण्ण श्रद्धा के साथ कौमुदी चन्द्रिका आदि व्याकरण ही पढ़ाते रहे। अङ्गदराम

---

*प्रायः चार सौ वर्ष पहले जब बगाल के वैष्णव सम्प्रदाय के प्रवर्तक गौराङ्गदेव वृन्दावन आदि तीर्थों में भ्रमण करके नीमाचल की ओर लौटे थे तो उन्होंने भी सोरों में जाकर गङ्गा स्नान किया था।

"सोरों क्षेत्र में जा कर प्रभु ने गङ्गास्नान किया और गङ्गा के किनारे-किनारे प्रस्थान किया।" (चैतन्य-चरितामृत-मध्य लीला)

यद्यपि विद्यार्थी थे, परन्तु वह ऐसा यत्न करने में भी कभी-कभी शिथिलता प्रकट करते थे, जिससे उनके चक्षुहीन अध्यापक किसी प्रकार का कष्ट न पावें वा जिससे वह किसी असुविधा में पड़ कर किसी अंश में चित्त में अशान्त वा अप्रसन्न न हों। क्रमशः विरजानन्द के अध्ययन और अध्यापन के सम्बन्ध में काशी के समान सोरों में भी एक आन्दोलन होने लगा और विरजानन्द के आने पर सोरों का गड़ियाघाट दिन-प्रति-दिन लोगों के चित्त को आकृष्ट करने लगा।

एक दिन स्नान के पश्चात् गङ्गा के थोड़े से गहरे जल में खड़े हुए विरजानन्द विष्णुस्तोत्र का पाठ कर रहे थे। उसी समय वहाँ अलवरनरेश विनयसिंह भी उपस्थित थे। विरजानन्द के सुस्पष्ट, सुललित और एक प्रकार से अपूर्व उच्चारण-भक्तियुक्त स्तोत्रमाला को सुनकर और उनकी तेजोदीप्त, गम्भीर मुखश्री को देख कर अलवर के महाराज स्वयं ही उनको ओर आकृष्ट हो गये। इस कारण जितनी देर तक विरजानन्द स्तोत्रमाला की आवृत्ति करते रहे, अलवरनरेश उतनी ही देर तक उसे तद्गतमना होकर सुनते रहे। स्तोत्र की आवृत्ति को समाप्त करके जब विरजानन्द अपने आश्रम की ओर जाने लगे तो विनयसिंह उनके पास आये और यथोचित अभिवादन करके कहने लगे "महाराज !* आप कृपा करके अलवर चलिए। इसके उत्तर में जब विरजानन्द ने पूछा और उनको ज्ञात हुआ कि अनुरोध-कर्त्ता स्वयं अलवरनरेश विनयसिंह हैं तो उन्होंने कहा कि "आप राजा हैं और मैं त्यागी हूँ, आपके साथ मैं क्यों जाऊँ ?" इस बात को सुन कर विनयसिंह क्षुब्ध तो हुए, परन्तु उन्होंने विरजानन्द को अलवर लिवा जाने की इच्छा का त्याग नहीं किया। उस तपस्तेजः सम्पन्न अंधे संन्यासी की ओर उनका चित्त इतना आकृष्ट हो गया था कि वह उसकी कुटी के द्वार तक गये और पुनर्वार अनुरोध किया। तब विरजानन्द ने कहा कि 'यदि आप हमारे पास अध्ययन करें तो हम अलवर जा सकते हैं।" विनयसिंह ने उसी समय यह स्वीकार कर लिया और उनसे प्रति दिन पढ़ने की प्रतिज्ञा कर ली। अधिक क्या, विरजानन्द ने अलवरपति से यह भी स्वीकार करा लिया कि यदि इस प्रतिज्ञा का पालन न होगा तो हम अलवर से चले आवेंगे। जब विनयसिंह इस प्रकार प्रतिज्ञा-पाश में बंध गये तो विरजानन्द ने सोरों-त्याग का संकल्प दृढ़ कर लिया और थोड़े ही दिन के भीतर अलवर की प्रासाद-माला की ओर चले गये।

विरजानन्द अलवर क्यों आए ? पाठक ! इस अन्धे संन्यासी के अलवर राजप्रासाद में जाने के सम्बंध में हम एक विषय की आलोचना करनी चाहते हैं। यह विषय यही है कि विनयसिंह स्वामी विरजानन्द को अलवर किस उद्देश्य से लाए ? क्या वह अध्ययन की इच्छा के वशीभूत होकर ही उन्हें लाए थे ?

जिन लोगों का यह विश्वास है कि विनयसिंह केवल पढ़ने की इच्छा से ही विरजानन्द को अलवर लाए थे, वे उसकी पुष्टि में यह कहते हैं कि महाराज

---

*केवल बङ्गाल को छोड़कर भारतवर्ष के प्रायः सभी प्रदेश में लोग साधु-संन्यासी, पण्डित प्रभृति सम्माननीय व्यक्ति को महाराज शब्द से सम्बोधन करते हैं।

विनयसिंह की पण्डित प्रियता के कारण नाना श्रेणी के पण्डित उनके पास आया करते थे। इसी से कभी-कभी कोई अर्थलोभी धूर्त्त पण्डित भी आ जाते थे। धूर्त्त पंडितगण अलवरपति के सामने नाना प्रकार से अपनी धूर्त्तता का जाल फैलाया करते थे। कोई कुछ कविता पढ़ कर कहता "महाराज! देखो, इन श्लोकों में लिखा है कि अमुक दिन आपका प्राणनाश होगा।" कोई एक श्लोक बोल कर समझाता कि "महाराज! इस श्लोक में कहा है कि अमुक दिन आपका राज्य नाश होगा।" इस प्रकार नाना श्लोक और नाना कविताओं से अलवरराज की भावी विपत्तियों से राजा को भयभीत करके और उसके साथ ही विपत्तिवारक शान्ति स्वस्त्ययन आदि के प्रसंग को भी उठाकर समय-समय पर वे विनयसिंह के कोष से बहुत धन लेकर चले जाते थे। जब विनयसिंह पण्डितों की धूर्त्तत्ता के रहस्य को जान लेते, तब वह क्रुद्ध होते और क्षुब्धचित्त हो जाते और इस चिन्ता से कभी-कभी व्याकुल हो उठते कि क्या उपाय करें, जिससे संस्कृत सीख कर संस्कृत के श्लोक आदि का मर्म ग्रहण कर सकें। संस्कृत-शिक्षाविषयिणी इच्छा ने धीरे-धीरे संकल्प का रूप धारण कर लिया था और वह संकल्प उत्तरोत्तर परिपुष्ट हो गया था और उन्हें इस विषय में कृतसंकल्प बना दिया था। इस प्रकार संकल्पारूढ़ अवस्था में जब अलवरपति गंगा के स्नान के लिए सोरों आए* और विरजानन्द के समान वैयाकरण के समागम से प्रसन्नता प्राप्त की तो इस में संशय ही क्या हो सकता है कि विरजानन्द के निकट व्याकरण पढ़ने के संकल्प से ही वह विरजानन्द को अलवर लाए थे?

अलवरपति की संस्कृत शिक्षा के विषय में जो हेतु ऊपर दिया गया है, क्या वह ठीक है? विनयसिंह पण्डित मण्डली पर प्रीति रखते हों, परन्तु क्या इससे यह सिद्ध होता है कि उन्हें काण्ड अकाण्ड का ज्ञान नहीं था? क्या अलवर के महाराज को यह जानने का भी सामर्थ्य नहीं था कि कौन पण्डित है और कौन धूर्त्त है? इसके विरुद्ध जब हम देखते हैं कि प्रजापालन और राज्य के अन्य कार्यों के सम्पादन में विनयसिंह सविशेष दूरदर्शिता का परिचय देते थे, विद्वज्जनादि के साथ वार्त्तालाप करने के समय बुद्धिमत्ता और वाक्पटुता का आश्रय लेते थे, शासन-कार्य में न्याय की सबसे अधिक सम्मान रक्षा करते थे, तब हम कैसे विश्वास कर सकते हैं कि एक निर्बुद्धि और जड़बुद्धि मनुष्य के समान बीच-बीच में धूर्त्त पण्डितों के छल में आ जाते थे? यदि संस्कृत पढ़ना विनयसिंह के लिए एकान्त वांछनीय विषय हो गया

---

*मथुरा वृन्दावन प्रान्त के- विशेषत: राजपूताना के अन्तर्गत जयपुर, जोधपुर, बीकानेर प्रभृति स्थानों में हिन्दुओं के लिए सोरों का गङ्गा-प्रवाह अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक निकट है। इसलिए उक्त स्थानों के क्या साधारण और क्या समृद्ध सभी श्रेणियों के हिन्दु गङ्गास्नान के लिए सोरों ही आते हैं। कभी-कभी मध्यभारत के अन्तर्गत इन्दौर, रतलाम प्रभृति स्थानों के रहने वाले भी—और कभी गुजरात, काठियावाड़ तक के हिन्दू गङ्गास्नान के लिए सोरों ही आते हैं। और अलवरनरेश के समान राजस्थान के अन्य राजगण भी सोरों में देखने आते हैं।

था। यदि शास्त्र, व्याकरण पढ़ना ही उन्हें अत्यावश्यक हो गया था तो क्या अलवर में इस काम के योग्य कोई पण्डित नहीं था ? क्या उस समय की अलवर की सभा में पण्डितों और अध्यापकों का अभाव था ? पण्डित रूपनारायण-से व्याकरणविशारद अलवर में उपस्थित थे, फिर वह व्याकरण पढ़ने के लिए सोरों से विरजानन्द को लाने क्यों जाते ? एक और बात पर भी ध्यान देना आवश्यक है। सोरों के गङ्गातट पर विरजानन्द को अलवर लाने का अनुरोध करते समय क्या अध्ययन के सम्बन्ध में विरजानन्द ने स्वयं भी कुछ कहा था ? इससे भी अधिक जब विरजानन्द के मना कर देने पर विनयसिंह ने दूसरी बार अनुरोध किया तो क्या उस समय भी इस विषय में अपनी ओर से कोई बात कही ? बल्कि जब विरजानन्द ने देखा कि उनका अनुरोध ऊपर-ऊपर से ही है और जब उन्होंने अपनी ओर से पढ़ने की बात कही तब भी महाराज ने यह प्रतिज्ञा नहीं की कि हम प्रति दिन नियमित रूप से पढ़ा करेंगे। ऐसी अवस्था में यह कैसे कहा जा सकता है कि एकमात्र पढ़ने की इच्छा के वशीभूत हो कर ही विनयसिंह विरजानन्द को अलवर लाये थे ? यदि उनके लाने के मूल में केवल पढ़ने की ही इच्छा होती तो क्या अलवरनरेश के लिए यह स्वाभाविक न था कि वह इस इच्छा को स्वयं ही प्रकट करते वा उसकी ओर कुछ तो संकेत करते ?

हम यह नहीं कहेंगे कि उनको लिवा लाने के पश्चात् अलवरपति के मन में शुरू में पढ़ने की इच्छा न थी, परन्तु यह अवश्य कहेंगे कि पढ़ने की इच्छा उनकी एकमात्र वा प्रधान इच्छा न थी। यह बात पहिले ही कही जा चुकी है कि विनयसिंह एक अतीव पाण्डित्यप्रिय मनुष्य थे, परन्तु यह ठीक नहीं है कि विनयसिंह केवल पाण्डित्यप्रिय ही थे। वे जैसे पाण्डित्यप्रिय थे वैसे ही विद्योत्साही भी थे और जितने विद्योत्साही थे उतने ही विद्वत्सेवी भी थे। विनयसिंह के समान विद्योत्साही भूपति आजकल भी राजन्य समाज में अत्यन्त विरले हैं।* जैसे विद्वज्जन की सेवा सत्कार में वह सर्वदा उद्यत रहते थे वैसे ही विद्योन्नति के उपायों के करने में वह अहरह मुक्तहस्त रहते थे। हिन्दू हो वा मुसलमान, विद्वान् होने से ही वह विनयसिंह के आदर का पात्र बन जाता था। †सहस्र रुपए व्यय हों वा

*एक बार जोधपुर को जाते समय बीकानेर के एक पण्डित के साथ राजपूताना के आजकल के राजन्य वर्ग के सम्बन्ध में अलवरपति के विषय मे हमारी बातचीत हुई थी। उस पर जो कुछ उस पण्डित ने कहा था, उसका सारांश यह था। विनयसिंह के समान विद्योत्साही राजा आजकल नहीं हैं। उन्होंने जैसे स्वयं यत्न करके संस्कृत पढ़ी थी वैसे अन्तःपुर की रानियों को भी पढ़वाई थी। उन्होंने आगाजी नामी मुसलमान को एक-एक अक्षर का एक-एक रुपया देकर सारी गुलिस्तां लिखवाई थी। जैसे वे विद्यानुरागी और विद्योत्साही थे वैसे ही राज्यशासन और प्रजापालन में कठोरतर न्याय के पक्षपाती थे।

†विनयसिंह ने अपनी सभा में पंजाब के अन्तर्गत खैराबाद निवासी फजल हक़ नामी एक सुशिक्षित मुसलमान को तीन सौ रुपया वेतन पर नौकर रक्खा था।

लाख रुपये परन्तु विद्योन्नति का अनुष्ठान होने से विनयसिंह बिना संकोच के साहाय्य करते थे। अलवर की उस समय की राजसभा विनयसिंह की विद्यासेविता की उज्ज्वलतर साक्षी है। अलवर का पुस्तकालय उनकी विद्योत्साहिता की अविनश्वर कीर्ति है*। राजसभा में पण्डित शालिग्राम और शिवप्रसाद, पण्डित रूपनारायण और लक्ष्मण शास्त्री के समान उज्ज्वल तारकमाल विराजती थी। इसमें कुछ संशय नहीं है कि राजसभा राजकीय विद्यानुरागिता की सम्यक् परिचायक थी। भारतवर्ष में केवल वाराणसी ही विदुष्मती नाम से प्रसिद्ध है, परन्तु विनयसिंह के प्रभाव से कुछ समय के लिए अलवर की राजधानी भी विदुष्मती नाम से प्रसिद्ध हो गयी थी। विनयसिंह के राज्यकाल में अलवर की प्रसाद-भूमि कुछ समय के लिए लक्ष्मी और सरस्वती की सम्मिलित भूमि गिनी जाने लगी थी। अस्तु, इस प्रकार विद्योत्साही और विद्वत्सेवी विनयसिंह ने सोरों के गड़ियाघाट जाकर जब एक संन्यासी की विद्वत्ता-विषयक अनेक कथायें सुनीं और आंखों से देखकर वास्तव में उन्हें एक अलोकसाधारण पुरुष पाया तो यह कहना व्यर्थ ही है कि विनयसिंह का उन्हें अलबर ले जाने पर उद्यत होना हर प्रकार से स्वाभाविक ही था। विशेषत: जब विरजानन्द के साथ बातचीत करके, तदुच्चारित विष्णुस्तोत्र को सुनकर, उनकी रीति-प्रकृति का कुछ पर्यालोचन करके विनयसिंह ने जान लिया कि यह मनुष्य एक ओर त्याग और तेजस्विता की और दूसरी ओर प्रतिभा और पवित्रता की मूर्त्ति है तो फिर उन्हें अलवर लाने का अनुरोध करना महाराज विनयसिंह के लिये सर्वांश में ही संगत क्यों न होता? उन्होंने यह स्वयं ही अनुभव कर लिया था कि विरजानन्द के अलवर में आकर रहने से अलवर की राजसभा और भी उज्जवल हो जायेगी, अलवर की सारस्वतसम्पद्शाला और भी संवर्द्धित हो जायगी। विरजानन्द के समान त्यागी, तेजस्वी और विद्यावीर को रखकर सेवा-सत्कार करने से उनके हृदय की विद्वत्सेविनी वृत्ति सविशेष चरितार्थता लाभ करेगी। इसीलिए उन्होंने विरजानन्द से अलवर आने के लिए बार-बार अनुरोध किया था। अब यह ज्ञात हो गया होगा कि इस विषय में अलवरपति अपनी स्वभावसिद्ध विद्योत्साहिता और विद्वत्सेविता के आवेग से ही प्रधानत: प्रेरित हुए थे।

---

*विविध प्राचीन और प्रयोजनीय संस्कृत पुस्तकों—विशेषत: बहुतर दुष्प्राप्य संस्कृत ग्रन्थों के समावेश के लिए जैसे नेपाल राज्य, जयपुर राज्य और ओखिमठ के पुस्तकालय प्रसिद्ध हैं, महाराज विनयसिंह-स्थापित अलवर का पुस्तकालय भी वैसा ही प्रसिद्ध है। इस पुस्तकालय के पुष्टिसाधन वा गौरवसम्पादन के कार्य में विनयसिंह ने कोई यत्न, अर्थ-व्यय उठा नहीं रक्खा था, पुस्तकसंग्रहादि करने में कोई त्रुटि नहीं की थी। संस्कृत के सिवाय अरबी-फारसी भाषाओं के महामूल्य ग्रन्थों का भी संग्रह उन्होंने किया था। एक कुरानशरीफ पर ५० हजार और गुलिस्तां पर २ लाख रुपया व्यय करके विनयसिंह ने इस पुस्तकालय के गौरव को बढ़ाया था। बम्बई के अध्यापक पीयर्सन के केटलाग (catalogue) तालिका के पढ़ने से इस पुस्तकालय के विषय में अनेक बातें जानी जा सकती हैं।

(५) अलवर-वास

चाहे जो आवेग वा इच्छा प्रवलतर रही हो, परन्तु चूंकि पढ़ने की इच्छा प्रकट करके ही विनयसिंह विरजानन्द को अलवर लाए थे इसलिए उन्होंने अलवर पहुंच कर उस इच्छा को कार्य में परिणत करने की चेष्टा की।

पहले तो उन्होंने विरजानन्द के रहने का प्रबन्ध किया। यद्यपि परिचय थोड़े काल का था, परन्तु विनयसिंह ने वह जान लिया था कि विरजानन्द स्वभाव से क्रोधी हैं, इसलिए उन्होने ऐसा यत्न करने में कोई त्रुटि नहीं की, जिससे विरजानन्द को अलवरवास किसी प्रकार से अप्रीतिकर न हो।

विरजानन्द के रहने के लिए कटरा में जगन्नाथ के मन्दिर के पास एक गृह निर्दिष्ट हुआ*, भोजन सामग्री राजभण्डार से नियमपूर्वक आने लगी और स्वेच्छानुरूप व्यय करने के लिए प्रति दिन एक रुपया देने की आज्ञा हुई। मित्रसेन नामी ब्राह्मण स्वामी जी का रसोइया नियत हुआ। विद्यार्थी प्रेमसुख केवल विद्यार्थी बनकर ही नहीं रहा, वह इस विषय में भी सर्वदा सावधान रहने लगा, जिससे गुरुदेव को किसी अंश में भी क्लेश न हो। सुतराम् क्या आहार, क्या निवास-स्थान, किसी विषय में भी कोई शिकायत की बात न रही। विरजानन्द के अलवर रहने सहने का इस प्रकार सुप्रबन्ध हो चूकने पर महाराज के पढ़ने का समय और स्थान भी निर्दिष्ट हो गया और विरजानन्द नियत समय पर राजमहल में जाकर अलवर नरेश को पढ़ाने लगे।

विनयसिंह व्याकरण पढ़ने में प्रवृत्त हुए। विरजानन्द ने उन्हें लघुकौमुदी पढ़ानी आरम्भ की। परन्तु विनयसिंह ने जब यह अभिप्राय प्रकट किया कि ऐसा उपाय होना चाहिए जिससे यह थोड़े ही समय में व्याकरण पर अधिकार प्राप्त कर सकें तो विरजानन्द ने भी उसका अनुमोदन किया और वह व्याकरण के एक नए ग्रन्थ की रचना में लग गए और शीघ्र ही शब्दबोध[1] पुस्तक सङ्कलित हो गई। शब्दबोध को शिष्य के हाथ में देकर विरजानन्द अलवरनरेश को व्याकरण में व्युत्पन्न करने की चेष्टा करने लगे। यह बात कि शब्दबोध अलवरनरेश के आदेश से ही संकलित हुआ था, उसकी समाप्ति पर लिखी है।† हमारी सम्मति में यह कहने में कोई दोष नहीं है कि इस देश में जो लोग धनैश्वर्यशाली हैं अथवा दिन

---

*कोई यह कहते हैं कि विरजानन्द के अलवर में रहने के लिए मुन्शीबाग नियत हुआ था परन्तु यह बात ठीक नहीं है।

†श्रीमानालवरो द्विषां स विजयी शार्दूलविक्रीडितम्। तस्य श्री विनयेशभूपतिलकस्याज्ञावशादुद्धृतः। सारो व्याकरणस्य तेन भगवान् श्रीशङ्करः प्रीयताम्। इति श्रीमत्परमहंस परिव्राज-

रात विशाल भूसम्पत्ति के अधिस्वामित्वसूत्र में बद्ध हैं, प्रायः वह पठन-पाठन आदि के कार्य में आस्थाहीन होते हैं। परन्तु उपस्थित क्षेत्र में हम क्या देखते हैं ? अलवर जैसे विशाल राज्य के स्वामी होते हुए भी अध्ययन-कार्य में विनयसिंह एक दिन के लिए भी शिथिलता प्रकट नहीं करते। वह विरजानन्द के पास नियत समय पर विद्यार्थी के विनम्र भाव से आते हैं और विद्यार्थी के विनम्र भाव से ही पाठ समाप्त करके चले जाते हैं। सौ आवश्यकताओं के होते हुए भी, सैंकड़ों लोगों के उनके मुखापेक्षी रहते हुए भी, सहस्रों राजकीय कार्यों की निष्पत्ति का उनके केवल एक वचन पर निर्भर रहते हुये भी वह नियत समय पर गुरुदेव के पास पाठाभ्यास करने आते हैं।

राजमहल में पढ़ाने का कार्य करने के अतिरिक्त विरजानन्द अपने स्थान पर भी यही कार्य करते थे। अलवर के विद्यार्थी प्रेमसुख की बात पहले ही कही जा चुकी है। उसको छोड़कर सोरों के पुराने शिष्य अंगदराम को पढ़ाने से जितना भी अवकाश मिलता था, उसे वह अपने अध्ययन में वा अधीत विषय के विचार और मनन में लगाते थे। विरजानन्द की जैसी तेजस्विता स्वभावसिद्ध थी, वैसी ही विचार पटुता भी स्वभावजात थी, इसीलिए राजसभास्थ अन्यान्य पण्डितों से कभी-कभी उनका शास्त्रार्थ हो जाता था। और उसमें यदि कोई पण्डित विरजानन्द से परास्त हो जाता था तो उस पर कोई बड़ा आन्दोलन न होता था, परन्तु यदि कभी विरजानन्द किसी से परास्त हो जाते थे तो दूसरे पण्डितों को बड़ा आनन्द होता था और वह कभी-कभी "अन्धा भूल गया" ऐसा कहकर आस्फालन किया करते थे। हम नहीं कह सकते कि इस प्रकार के आस्फलन के मूल में पण्डितों का क्या अभिप्राय छिपा हुआ था? *

यद्यपि हम यह नहीं कह सकते तो भी इतना अवश्य कह सकते हैं कि अलवर के विरजानन्द मथुरा के विरजानन्द के समान विचारपटु नहीं थे। जिस विचार-पटुता ने मथुरावासी विरजानन्द के चरित्र में अपने अलौकिक प्रभाव का विस्तार किया था, जिस विचारपटुता ने उत्तर काल में इस अन्धे संन्यासी को एक अजेय विचारमल्ल बना दिया था, उस विचारपटुता ने अभी तक विरजानन्द में परिपक्वता प्राप्त नहीं की थी। यह बात न होने पर भी वह शास्त्र संग्राम में

आचार्य श्री गौरीशङ्कर शिष्य श्रीविरजानन्दकृत: शब्दबोधो नाम व्याकरणसंक्षेपसंग्रहः।†

†विरजानन्द सङ्कलित शब्दबोध व्याकरण हस्त लिखित पोथी के आकार में अब भी अलवर के पुस्तकालय में रक्षित है।

*कोई-कोई कहते हैं कि विरजानन्द स्वामी की उज्ज्वल स्मृति प्रबल विचारशक्ति और शास्त्रान्तगामिनी बुद्धि को देखकर अन्यान्य पण्डितगण उनसे ईर्ष्या करते थे और इसी कारण से उनको किसी न किसी प्रकार से परास्त कर पाने पर अतिशय हर्ष प्राप्त करते थे।

इसके अतिरिक्त यह बात भी न थी कि उस श्रद्धा-भक्ति को भी घटाने के लिए जो महाराज विनयसिंह को विरजानन्द के प्रति थी, पण्डितगण सुयोग की खोज में न रहते हों।

बिल्कुल अनभिज्ञ वा दुर्बल नहीं थे, वह अपने पड़ोसी पण्डितों में अनेक पण्डितों की अपेक्षा दृढ़तर और दक्षतर थे। यह बात पराजित प्रतिद्वन्द्वी पण्डितों के उल्लिखित प्रकार के आस्फालन प्रकट करने से ही सिद्ध होती है।

इस स्थल में एक और बात उल्लेख करने योग्य है। जैसे अलवरवासी विरजानन्द मथुरावासी विरजानन्द के समान विचारपटु नहीं थे वैसे ही अलवरवासी विरजानन्द मथुरावासी विरजानन्द के समान पाणिनि का प्रतिपादन और अनार्ष ग्रंथों का खण्डन कुछ भी नहीं करते थे। परन्तु अलवरवासी कोई-कोई लोग अब भी कहते हैं कि उस समय भी विरजानन्द के विचार पर पाणिनि की श्रेष्ठता और अनार्ष ग्रन्थावलि की अपकारिता ने अधिकार पा लिया था।

विनयसिंह पढ़ने के अभिप्राय से जितनी देर भी विरजानन्द के पास ठहरते उतनी ही देर मानों भयभीत से रहते थे। यद्यपि हमारे देश में ज्ञानदाता गुरु, विशेष सम्मान का पात्र है और तन्निबन्धन गुरुशिष्यगत सम्पर्क यद्यपि गुरुतर और गम्भीरतर है तथापि जिस त्रस्त भाव से विनयसिंह विरजानन्द के पास उपस्थित होते थे और जिस त्रस्त भाव से पाठ पढ़कर जाते थे, वह हमें एक और भी विशिष्ट प्रकार का प्रतीत होता है। विनयसिंह की इस त्रस्तता का क्या कारण था, यह कौन कह सकता है ? वह स्वभाव से तो भीरु थे नहीं। जो लोग विनयसिंह से परिचित हैं, वह हमारे साथ यह कहने में एकमत होंगे कि ज्ञानीजन की सेवा-संवर्धता के समय वह जैसी विनम्र मूर्ति धारण करते थे, प्रजा-शासन के समय वैसी प्रचण्ड मूर्ति धारण करते थे। कभी-कभी उनकी आज्ञा ऐसा कठोरतर भाव धारण करती थी कि उस से एक ही दिन में एक से अधिक मनुष्यों का शिरच्छेद हो जाता था। कभी-कभी उनका क्रोध इतना प्रचण्डतर हो जाता था कि उससे सारा अलवर कांप उठता था। जो शासन में इतने कठोर, क्रोध में इतने प्रचण्ड थे ; उनका स्वभाव से भीरु बतलाना किस प्रकार संगत हो सकता है। अब यदि विनयसिंह ऐसे तेजस्वी पुरुष थे तो वह एक अन्धे चाकर के सामने इस प्रकार नम्र भाव से कैसे रहते थे ?

पाठक ! आप शायद यह स्वीकार करेंगे कि यद्यपि विनयसिंह अति तेजस्वी थे तो भी वह विरजानन्द के समान तेजस्वी नहीं थे, क्योंकि विनयसिंह की तेजस्विता जिस सामग्री से बनी थी, विरजानन्द की तेजस्विता उस सामग्री से नहीं बनी थी। विनयसिंह भोगी थे, अतुल वैभव के अधिपति होने के कारण तेजस्वी थे और विरजानन्द त्यागी होने से तेजस्वी। विनयसिंह की तेजस्विता भोगात्मक और विरजानन्द की तेजस्विता त्यागात्मक थी। विनयसिंह अपने राजवैभव वा राजगौरव की रक्षा करने के हेतु से ही तेजस्वी थे और विरजानन्द अपने को सर्वतोभावेन च्युतसर्वस्व करने से ही तेजस्वी थे। मणि-काञ्चन की प्राप्ति की इच्छा का नाम भी लालसा है और मुक्तिरूप परमपुरुषार्थ की प्राप्ति की इच्छा का नाम भी लालसा है। परन्तु दोनों लालसाएं जैसे एक नहीं हैं वैसे ही उद्देश्य और उपादान में भी दोनों पृथक् वस्तु हैं। विनयसिंह की तेजस्विता

और विरजानन्द की तेजस्विता दोनों भिन्न वस्तुएं थीं। उनको पृथक् वस्तु कहने से ही उनका ठीक-ठीक वर्णन नहीं होता। क्या यह प्रतीयमान नहीं होता कि उद्देश्यगत उच्चता और उपादानगत विशुद्धता में विरजानन्द की तेजस्विता थी? सुतराम् प्रबलप्रतापान्वित पुरुष होन पर और अयुत लक्ष मनुष्यों के अधीश्वर होने पर भी विनयसिंह क्यों एक संन्यासी के सामने संकुचित आस्था में रहते थे, यह बात अब समझ आ जायेगी।

इस विषय में एक बात और भी विचारणीय है। पाठक यह बात भूले न होंगे कि अलवरपति सोरों से विरजानन्द को अंगी सूत्र में सम्बद्ध होकर ही अलवर में लाए थे। हम समझते हैं यह बात सब ही स्वीकार करेंगे कि प्रतिज्ञापालन-जनित महत्व और प्रतिज्ञाभंगजनित नीचत्व का परिमाण प्रतिज्ञा करनेवालों की, वा जिससे प्रतिज्ञा ली जाए उसकी वा उन दोनों की पदप्रतिपत्ति और शिक्षा सम्भ्रम के अनुसार निर्धारित होता है। इस क्षेत्र में जिन्होंने प्रतिज्ञा की थी वह साधारण मनुष्य नहीं थे, वह अलवराधिपति विनयसिंह थे और जिनसे वा जिनके अर्थ प्रतिज्ञा की गई थी वह भी ऐसे-वैसे मनुष्य नहीं थे, वह तपस्तेजः सम्पन्न स्वामी विरजानन्द थे। इसके अतिरिक्त, एक बात और कहनी रह गई, वाक्य में वा व्यवहार में क्या कभी किसी हिन्दू ने किसी संन्यासी के साथ प्रतिज्ञा का भंग किया है वा कर सकता है?

प्रतिज्ञाच्युति अन्य साधारण के सम्बन्ध में सम्भव होने पर भी साधु संन्यासी के सम्बन्ध में कभी सम्भव नहीं है। इस लिए विनयसिंह की विपुल मान-मर्यादा की बात छोड़ देने पर भी वह जब एक संन्यासी के साथ सत्याबद्ध हो गये थे तो उसके पालन करने में भी बाध्य हो गये थे। उसके पश्चात् वह बहुत सावधान रहते थे कि उस प्रतिज्ञा के पालन में किसी अंश में कोई भी उपेक्षा व अवहेलना प्रकट न होने पावे और इस बात को स्मरण करके कि उन्होंने वह प्रतिज्ञा एक संन्यासी के साथ की थी, वे मन में भय खाते रहते थे।

(६) अलवर-त्याग और पुनः सोरोंवास

विनय सिंह ने शब्दबोध के एक अंश को पढ़ लिया है और अपने अध्यवसाय के बल और गुरुदेव की शिक्षाप्रणाली के प्रभाव से वे व्याकरण-शास्त्र से कुछ अभिज्ञ हो गये हैं। शिष्य की विद्योन्नति को देख कर विरजानन्द जितने आनन्दित हैं, शिष्य को प्रतिज्ञा-पालन में अविचलित देखकर उससे उतने ही अप्रसन्न हैं। परन्तु यह अप्रसन्नता अधिक दिन स्थित नहीं रही। एक दिन जब विरजानन्द नियत समय पर महल में गये तो देखा कि शिष्य अनुपस्थित है। अनेक क्षण प्रतीक्षा करते रहे, परन्तु महाराज नहीं आये*। विरजानन्द महल से चले आए और महल से चलने के साथ ही अलवर से चले जाने का संकल्प कर लिया। जो लोग संसार के सारे बन्धनों से छूट जाते हैं वा ऐहिकता के अशेषविधि दुच्छेद्य जाल से मुक्त हो जाते हैं, उनके लिए अपने संकल्पों को कार्य में परिणित करना जितना सहज है, अन्य के लिए उतना सहज कभी नहीं हो सकता। उनकी इच्छा जिस समय होती है, इच्छानुरूपकार्य भी उसी समय होजाता है। इसलिए इसमें वैचित्र्य ही क्या है यदि विरजानन्द महल से लौटने के साथ ही अलवर-त्याग का प्रबन्ध करने लगे? परन्तु अलवर त्याग के विषय में इतनी शीघ्रता करनी क्या दण्डीजी के लिए उचित थी? जो लोग दश मनुष्यों में केवल एक मनुष्य के समान मनुष्य कह कर परिचित हैं, जो लोग सांसारिक हानि लाभ में किंवा स्वार्थसंक्रान्त सूक्ष्मतर गणना के सम्बन्ध में अन्य साधारण की अपेक्षा अग्रवर्ती कह कर परिगणित हैं, वे विरजानन्द के उपस्थित व्यवहार को देखकर निश्चय ही कहेंगे कि महाराज स्वयं ही अपनी प्रतिज्ञा को भंग करके अपराधी हुये थे। परन्तु इतना कहने पर भी क्या अलवर त्याग का प्रस्ताव करना व अलवर-त्याग के विषय में इतना शीघ्र उद्यत हो जाना, विरजानन्द के पक्ष में बुद्धिमत्ता का परिचायक था? क्या इतने बड़े राजसंसर्ग वा राजाश्रय को छोड़कर चले जाना युक्तिसंगत कार्य था?

पाठक! शायद आप इतना स्वीकार करेंगे कि भोगी के साथ त्यागी का सम्बन्ध-स्थापन किसी अंश में भी विधेय नहीं है। किसी विशेष हेतु के अभाव में, ज्ञान प्रचार व धर्मोपदेश-दानरूप किसी सूत्र-सम्बन्ध के न होते हुए भोगी का त्यागी के साथ सम्मिलन कभी भी वांछनीय नहीं हो सकता। क्योंकि भोग और त्याग परस्पर विपरीतधर्मी वस्तु हैं। उनमें से एक का अस्तित्व दूसरे का उच्छेदक है। इसलिए यदि कोई त्यागी पुरुष किसी प्रागुक्त विशेष प्रयोजन के

---

*उपस्थित क्षेत्र में महाराज की अनुपस्थिति के सम्बन्ध में अनेक लोग अनेक बातें कहते हैं। परन्तु हमारा विश्वास यह है कि किसी गुरुतर राजकीय कार्यवश महाराज उस समय महल से बाहर चले गये थे।

अभाव में भोगी का संसर्गी हो जाए, भोगी के गृह में अक्षुण्णचित्त होकर कालातिपात करने लगे, तो फिर वह त्यागी पद का वाच्य नहीं रहेगा। इसी कारण से जब सोरों के गंगा तट पर अलवरपति ने अनुरोध किया था तो विरजानन्द ने कहा था कि 'आप राजा हैं और मैं त्यागी हूं, आप के साथ मैं क्यों जाऊं?' इस प्रकार उत्तर देना विरजानन्द से त्यागी के लिए सर्वतोभावेन स्वाभाविक ही था। इसीलिए उनको अलवर लाने में केवल अनुरोध ही पर्याप्त नहीं हुआ। केवल अनुरोध वाक्य ही विनयसिंह के साथ उनका सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ नहीं हुआ। अनुरोध कर्त्ता स्वयं अलवराधीश थे, परन्तु वे विरजानन्द को त्याग-धर्म की रीति-प्रकृति से तिल-मात्र भी न हटा सके। परन्तु जब केवल अनुरोध को पर्याप्त नहीं पाया तो विनयसिंह ने अनुरोध के मूल में अध्ययन सम्बन्ध को स्थापित किया और उनसे नियमित रूप से पढ़ने की प्रतिज्ञा की तब ही विरजानन्द अलवरराज के साथ चलने पर सहमत हुए। इसके पश्चात् अलवर के महाराज ने जितने दिन इस सम्बन्ध को अक्षुण्ण रखा, जितने दिन उस प्रतिज्ञा का पालन किया, उतने दिन विरजानन्द अलवर में रहते रहे। परन्तु अब जब कि उस सम्बन्ध का उच्छेद हो गया, उस प्रतिज्ञा का भंग हो गया, तब वह राजसंसर्ग में कालातिपात किस प्रकार से कर सकते थे? वह त्यागी होकर भोगी के साथ कालक्षेप किस प्रकार से कर सकते थे? इस लिए हम समझते हैं कि अलवर-त्याग में शीघ्रता करना विरजानन्द के लिए जैसा स्वाभाविक था, वैसा ही संगत भी था।

परन्तु अलवर-त्याग का क्या केवल एक यही कारण था? क्या उल्लिखित प्रतिज्ञाभंग के हेतु से ही प्रज्ञाचक्षु अलवर-परित्याग के संकल्प पर आरूढ़ हुए थे? इस विषय में अन्य कारण भी रहे हों, परन्तु इस में अणुमात्र भी संशय नहीं है कि प्रागुक्त प्रतिज्ञाभंग ही मुख्य कारण था। अब हम अन्य कारणों की भी एक बात कहेंगे।

अलवर के महाराज विनयसिंह अन्यान्य अंशों में यद्यपि सुखी, स्वच्छन्द और सौभाग्यशाली थे, परन्तु पुत्रहीन होने के कारण चित्त में कुछ क्षुब्ध रहते थे। क्या राजपरिवारस्थ, क्या राजसंसृष्ट अन्य व्यक्ति, सभी इस कारण से दुःख अनुभव करते थे? अलवर के महाराज के एक पुत्र हो जाये, यह अलवर के क्या दरिद्र क्या समृद्ध, सभी लोगों की इच्छा थी। सभी आशान्वित हृदय से अलवरराज के भावी वंशधर की प्रतीक्षा करते थे।

उल्लिखित प्रतिज्ञाभंगरूप घटना से कई वर्ष पहिले मतिराम नामी एक जप करने वाला ब्राह्मण अलवर में आया था। वह एक दिन अलवर महाराज के समीप गया और उनके सामने खड़ा होकर उसने दृढ़ता-सूचक स्वर से कहा कि 'मैं जप के प्रभाव से पुत्ररहित व्यक्ति के पुत्र उत्पन्न करा सकता हूं।' यह सुनकर विनयसिंह को कुछ आश्चर्य हुआ और कुछ इतस्ततः करने के पश्चात् उन्होंने मतिराम को इस उद्देश्य से मन्त्रजाप करने की आज्ञा दी। उसके अनुसार

मतिराम अलवर में बैठ कर जप के कार्य में लग गया। दैवक्रम से कुछ दिन पीछे एक पुत्ररत्न प्राप्त करके विनयसिंह मन में बहुत ही आनन्दित हुए। वह मतिराम से अत्यन्त प्रसन्न हुए और उसका हाथी, घोड़ा, पालकी और बहुत धन-रत्न द्वारा तुष्टिसम्पादन करके अपने को कृतकृत्य समझा। विरजानन्द के अलवर में रहते-रहते ही यह सब घटना हुई थी। अलवरपति द्वारा मतिराम की पूर्वोक्त रूप से पूजा और प्रतिष्ठा को देख कर दण्डी जी जितने क्रुद्ध हुए उतने ही विरक्त भी हुए, क्योंकि मतिराम किसी अंश में भी पण्डित पद का अधिकारी नहीं था, बल्कि मतिराम को पण्डितों की पंक्ति से बाहर करने में भी कोई विशेष हानि नहीं थी। विरजानन्द पण्डितों का ही सम्मान चाहते थे। वे अपण्डितों के सम्मान को कभी नहीं सह सकते थे। विरजानन्द विद्वज्जन की पूजा-प्रतिष्ठा से ही प्रसन्न होते थे। अविद्वानों के सम्मान पर वे क्रुद्ध होते थे। अतः जिन्होंने इतने सम्मान-समारोह के साथ मतिराम की पूजा की थी, उनके प्रति विरजानन्द का विरक्त होना स्वाभाविक ही था। ऐसे ही जिस भूमि में मतिराम पूजित हुआ था, उस भूमि के प्रति भी वितृष्ण होना विरजानन्द के लिए संगत ही था। इसी कारण अनुमान किया जाता है कि प्रतिज्ञाभंगरूप घटना के पहले से ही विरजानन्द अलवरपति के प्रति विरक्त और अलवर से वितृष्ण हो गये थे। इस प्रतिज्ञाच्युति की घटना ने उनके हृदय के विरक्तिभाव को जगा दिया। वायु के स्पर्श से जैसे धूम्राच्छादित वह्नि धक्-धक् करके जल उठती है, वैसे ही प्रागुक्त घटना के स्पर्श से विरजानन्द का यह विरक्ति और वितृष्णा का भाव विकीर्णस्फुलिंग हो गया। वह अलवर त्यागने को कृतसंकल्प हो गये और उसके विषय में काल का विलम्ब करना उनको बुरा लगने लगा।

इस ओर अलवरपति ने चाहे किसी कारण से हो, अपनी प्रतिज्ञा आप ही भंग की थी और इसलिए वे अनुतप्त थे। यह सुनकर कि उनके गुरुदेव ने अलवर त्यागने का संकल्प कर लिया है, वे और भी दुःखित हुए। जिनको अनुरोध करके अलवर लाए थे, जिनके आने से वे अलवर भूमि को उज्ज्वलतर समझते थे, जिनके पादमूल में बैठकर उन्होंने इतने समय तक अध्ययन किया था, वे आज स्वयं उनको और अलवर को त्यागकर जाते हैं, यह सोचकर वे बहुत ही मर्माहत हुए। परन्तु इसका उपाय ही क्या था? वे कहते ही क्या? विनयसिंह उत्तम रूप से जानते थे, कि उनके गुरुदेव की गति किसी प्रकार भी नहीं रुक सकेगी, तो भी उनको प्रतिनिवृत्त करने के अभिप्राय से उन्होंने बहुत बार यत्न किया, बहुत अनुनय विनय करके भेजे, परन्तु दण्डी जी ने उस ओर दृष्टिपात न किया और अंगदराम को साथ लेकर अलवर से चले गये। वे इतनी जल्दी में थे और इतने व्यग्र थे कि चलते समय कई मूल्यवान् पुस्तकें और कुछ रुपया वहीं भूल आये।

प्रश्न यह है कि विरजानन्द अलवर किस समय आए थे और अलवर में वे कितने दिन रहे? इन प्रश्नों का उत्तर हम निश्चयपूर्वक नहीं दे सकते। कोई-

कोई कहते हैं कि विरजानन्द संवत् १९०१ में आये थे और अलवर में तीन-चार वर्ष रहे थे* । अलवर छोड़कर दण्डी जी कहाँ गये ? वे अंगदराम के साथ अपने उसी प्रीतिनिकेतन सोरों के उसी सुरसरित्विधौत गड़ियाघाट पर जाकर पहुँचे । इस बार वे सोरों में आकर मथुरादास की कुटी में रहे† ।

अंगदराम पूर्ववत् पढ़ने और गुरु की परिचर्या में प्रवृत्त रहने लगे । कुछ दिन पश्चात् विरजानन्द रोगाक्रान्त हो गये । क्रमशः रोग बढ़ता गया और वे कुछ दिन तक रोगशय्या पर पड़े रहे । अंगदराम ने रुग्ण गुरुदेव की यथोचित सेवा की । बीच-बीच में मथुरादास आकर उनकी सेवा में सहायता करते रहे । इस प्रकार की सेवा-शुश्रूषा से कुछ दिन में विरजानन्द को आराम हो गया । सम्पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ कर लेने पर विरजानन्द ने गड़ियाघाट पर और अधिक ठहरना न चाहा । सोरों छोड़कर वे मुरसान आये । मुरसान के राजा टीकमसिंह ने विशेष श्रद्धा के साथ उनका आतिथ्य-सत्कार किया । मुरसान से भरतपुर आकर वहां के राजा बलवन्तसिंह‡ के आश्रय में कुछ दिन रहे ।

संन्यासी अतिथि की तेजस्विता, विद्यावत्ता और शुद्धचरित्रता को देखकर बलवन्तसिंह विरजानन्द से अत्यन्त प्रसन्न हुए और जिससे कि वे भरतपुर में स्थायी रूप से रहने लगे, इस विषय में विशेष आग्रह प्रकट करने लगे । परन्तु भरतपुरपति के इस आग्रह वा अनुरोध को न मानकर वे भरतपुर से मथुराधाम को चले गये‡ ।

---

*हमारी धारणा यह है कि विरजानन्द सम्वत् १९०१ से कुछ पहले ही अलवर आये थे[1] । सन् १८५७ के सिपाही विद्रोह के थोड़े समय पीछे ही महाराज विनयसिंह को परलोक-प्राप्ति हो गई थी । उनके लोकान्तरित होने पर उनका तेरह वर्ष का पुत्र शिवदानसिंह अलवर की गद्दी पर बैठा था । सन् १८५७ में शिवदानसिंह की आयु १३ वर्ष की थी । उनका जन्म सन् १८४४ वा संवत् १९०१ में हुआ था, यह मानना पड़ेगा । यह कथा लोकप्रसिद्ध भी है कि शिवदान का जन्म मतिराम ब्राह्मण के जपानुष्ठान के फलस्वरूप था । यह भी मानना पड़ेगा कि अलवर में मतिराम का आगमन और अलवर के पुत्रार्थ जपानुष्ठान दोनों घटनायें संवत् १९०१ से पहले ही हुई थीं । यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि विरजानन्द अलवर में १९०१ से पहले किसी न किसी समय आये, क्योंकि ये दोनों घटनाएं उनके सामने हुई थी ।

†मथुरादास वैरागी एक सेवानिष्ठ साधु था । साधु-संन्यासियों की सहायता के लिए मथुरादास ने गड़ियाघाट पर एक कुटिया की माला बना दी थी । वही कुटीमाला मथुरादास की कुटी के नाम से प्रसिद्ध थी ।

‡भरतपुरपति महाराज बलवन्तसिंह का राजकाल सन् १८३५ से १८५३ तक था । इसलिए स्वामी विरजानन्द १८५३ से पहले ही किसी न किसी समय में भरतपुर गये थे, यह मानना होगा ।

(७) मथुरा में पाठशाला का स्थापन और व्याकरण विषयक एक शास्त्रार्थ

स्वामी विरजानन्द ने मथुरा पहुंच कर एक शुभदायक कार्य का सूत्रपात किया। उन्होंने मथुरा नगर में एक पाठशाला खोली। यद्यपि इस से पूर्व वे सोरों प्रभृति स्थानों में विद्यार्थियों को नियम पूर्वक पढ़ाते रहे थे और इसी अभिप्राय से उन स्थानों में उन्होने एक एक पाठशाला भी खोली थी तथापि इस बार मानो एक विशेष भाव और विशेष संकल्प से प्रेरित होकर ही उन्होंने मथुरा में पाठशाला स्थापित की। फलतः उनकी यह मथुरा में स्थापित पाठशाला ही वास्तव में पाठशाला कहलाने योग्य थी। परन्तु क्या पाठशाला की स्थापना के विषय में कुछ कहा जा सकता है* ? पाठशाला का किस दिन जन्म हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। पहले गतश्रमनारायण के मन्दिर[1] में पाठशाला की स्थापना हुई† उस समय पाठशाला का कार्य प्रायः दो मास चला। उसके पश्चात् दण्डीजी ने एक मकान किराये पर लिया और फिर उसी मकान में पाठशाला को उठाकर ले गये. जितने दिन पाठशाला रही इसी मकान में रही। मथुरा के होली दर्वाजे से जो सड़क विश्रान्तघाट को जाती है, उसी के पश्चिम में पाठशाला का दो मजिला मकान अब भी विद्यमान है। यद्यपि यह मकान न तो आकार ही में और न

---

*उर्दू भाषा में प्रकाशित दयानन्द सरस्वती के जीवन-चरित्र पुस्तक में लेखराम ने एक स्थल में लिखा है—विरजानन्द ने सम्वत् १८९३ में मथुरा आकर पाठशाला स्थापित की। यह बात सर्वथा अप्रमाणित है। क्योंकि हम पहले ही सिद्ध कर चुके हैं कि महाराज विनयसिंह के पुत्र-जन्म के समय बल्कि उससे कुछ समय पहले से ही विरजानन्द अलवर में थे। विनयसिंह के पुत्र के जन्म का समय संवत् १९०१ है। ऐसी अवस्था में यह मानना होगा कि संवत् १९०१ में विरजानन्द अलवर में थे। और जब कि यह सत्य है कि मथुरा में पाठशाला स्थापन करने के पश्चात् विरजानन्द अलवर नहीं गये और अलवर छोड़ने के पश्चात् ही उन्होंने मथुरा में पाठशाला स्थापित की तो फिर यह कैसे सत्य हो सकता है कि उन्होंने संवत् १८९३ में मथुरा में पाठशाला स्थापित की थी ? हमारा विश्वास यह है कि उन्होंने संवत् १९०३ वा १९०४ में मथुरा में पाठशाला स्थापित की थी।

†इस विषय में मतभेद देखने में आता है। कोई-कोई कहते हैं कि स्वामी विरजानन्द मथुरा में गूजरमल नामी एक मनुष्य के गृह पर आकर रहे थे और वहां ही पहले पाठशाला स्थापित की थी। गूजरमल एक जागीरदार थे। अलवर के राज्य में उनकी एक जागीर थी। गूजरमल मथुरा के चौक में रहते थे।

संगठन ही में और न शिल्पकारी ही में रमणीय वा चित्ताकर्षक है तथापि वैदिकधर्म के पुनरुत्थान के प्रसंग में, भारत के धर्मसंशोधन के इतिहास में यह मकान चिरस्मरणीय रहेगा*। विरजानन्द ने स्वतन्त्रता पूर्वक रहने के लिए भृत्यादि नियत किये और अपने को सब प्रकार से शान्त और स्वच्छन्दचित्त करके उत्साहपूर्ण हृदय से विद्यार्थियों को पढ़ाना आरम्भ किया। उनके विपुल पाण्डित्य और नूतनतर अध्यापनप्रणाली के प्रभाव से धीरे-धीरे उनका विद्यार्थीदल बढ़ने लगा परन्तु यहां एक प्रश्न यह है कि इस सब काम में विरजानन्द का व्यय-निर्वाह किस प्रकार होता था? वे विद्यार्थियों से कभी कुछ वेतन न लेते थे और अधीतविद्य विद्यार्थियों से भी किसी रूप में कोई गुरुदक्षिणा ग्रहण नहीं करते थे। पढ़ाने के कार्य से दण्डी जी को एक कौड़ी भी आय नहीं थी। कभी-कभी कोई मनुष्य अपनी ही प्रेरणा से उन्हें कुछ दे जाते थे। भरतपुरपति बलवन्तसिंह, अलवरपति विनयसिंह और जयपुरपति रामसिंह विशेष श्रद्धाभक्ति करते थे और उसी श्रद्धा-भक्ति के निदर्शन रूप में उनमें से हरएक जो कुछ नियमित रूप से साहाय्य पहुंचा देते थे, उससे ही दण्डीजी का सारा व्यय निर्विघ्नता से चल जाता था।

पाठक ! यद्यपि यहां उसका प्रसङ्ग नहीं है तो भी हम एक बात की यहां आलोचना करेंगे, क्योंकि मूल विषय से उसका थोड़ा सा सम्बन्ध है। जिस समय दण्डी जी ने मथुरा में आकर पाठशाला खोली थी, उस समय मथुरा के सेठों की विपुल संभ्रम और अतुल सम्पत्ति थी। धन में, मान में प्रतिष्ठा (पद) में, प्रतिपत्ति में, उस समय सेठगण मथुरा में अग्रणी थे। उस समय सेठों का गृह कमलगृह के नाम से प्रसिद्ध था। परन्तु सेठ मनिराम† के दूसरे पुत्र राधाकृष्ण जैन मत से सन्तुष्ट न रहकर मतमतान्तर की आलोचना करते थे। विशेषतः राधाकृष्ण स्वभाव से

---

*यह मकान अब तक सरीनों का मकान प्रसिद्ध है।

†सेठ परिवार की अतुल धन-सम्पत्ति का मूल थे। मनिराम जयपुरवासी एक ओसवाल जैन थे। वे पहले एक सामान्य मनुष्य थे। घटनाक्रम से वे पारखजी* के कृपापात्र होकर ग्वालियर गये और राज्य के अनेक अंशों का ठेका लेकर लाखों रुपया कमाकर सेठजी के नाम से प्रसिद्ध हो गये। सेठ मनिराम के तीन पुत्र थे। पहले लक्ष्मीचन्द, दूसरे राधाकृष्ण, तीसरे गोविन्ददास। सेठ मनिराम बुढ़ापे में कुछ विरक्त हो गये थे और लाल बाबू के साथ ज के अनेक स्थानों पर भ्रमण करते थे।

*पारखजी—गोकुलचन्द पारख गुजरातवासी वैश्य और बल्लभकुलोद्भव वैष्णव थे। वे दौलतराव सिंधिया के सेठ कोशलचन्द अम्बाईदास के एक सामान्य नौकर होकर ग्वालियर में आये थे। अपनी स्वभावसिद्ध तीक्ष्णबुद्धि के प्रभाव से पहले वे कोशलचन्द के और फिर महाराज दौलतराव के चित्ताकर्षण में समर्थ हुए। धीरे-धीरे पारखजी दौलतराव के प्रीतिपात्र और विश्वस्त हो गये। अन्त में वे ग्वालियर के एक बड़े ठेकेदार बन गये और उन्होंने बहुत धनराशि उपार्जित कर ली और इस कारण से परन्तु विशेषतः सिंधिया की कृपा से पारखजी ने यथोचित मान-संभ्रम प्राप्त किया। एक बार उज्जैन के कुम्भ पर वैरागियों के साथ झगड़ा होने की सम्भावना समझकर दौलतराव ने पारखजी के अधीन कुछ सेना करके उन्हें उज्जैन

धर्मजिज्ञासु थे। जब कभी साधु-महात्मा को पाते साग्रह होकर उसके पास जाते और वार्त्तालाप में अपने संशय मिटाने का यत्न करते। इस प्रकार के वार्त्तालाप और आलोचना से राधाकृष्ण जैनमत से बिल्कुल वितृष्ण* हो गए और अन्त में वे वैष्णवमतावलम्बन के सङ्कल्प पर आरूढ होकर गोवर्द्धनवासी रङ्गाचारी†[3] से दीक्षा लेकर वैष्णव सम्प्रदायभुक्त हो गए।

भेजा था। वहां वैरागियों के साथ संन्यासियों का घोरतर झगड़ा हो गया था। पारखजी की आज्ञा से सैन्यगण ने संन्यासियों पर आक्रमण किया। उससे संन्यासियों में से अनेक हत और अनेक आहत हुए और अनेक केवल भय के कारण ही स्वयमेव मठ छोड़कर चले गये। घटनाक्रम से एक मठ में जिसे संन्यासी छोड़कर चले गये थे, पारखजी को करोड़ों रुपया मूल्य की सोने की ईंटे प्राप्त हुई। ग्वालियर लौटकर उन्होंने उपर्युक्त रीति से लब्ध इष्टिकाराशि को दौलतराव के सम्मुख दिया। दौलतराव ने स्वर्ण का लालच न करके कहा—'संन्यासियों का धन किसी पुण्य कार्य में लगाना चाहिए।" इसके कुछ दिन पीछे इस अयत्नलब्ध धनराशि और ठेकेदारी से प्राप्त अगाध वित्तराशि को साथ लेकर और रक्षक गण से परिरक्षित होकर पारखजी मथुरा आए और मथुरा वृन्दावन सड़क पर अब जो स्थान पारखजी का बाग प्रसिद्ध है, उसमें आकर ठहरे। परन्तु इस स्थान को निरापद न समझकर वे कुछ काल पीछे मथुरा चले आए। मथुरा में उन्होंने द्वारिकाधीश के विशाल मन्दिर को बनाया और द्वारिकाधीश की सेवा के लिए बहुत धन अर्पण किया और स्वयं अपुत्र होने के कारण मुनिराम के ज्येष्ठ पुत्र को दत्तक कर लिया। पारखजी के देहान्त हो जाने पर द्वारिकाधीश का मन्दिर और मन्दिरसंसृष्ट जितनी सम्पत्ति थी और उसके अतिरिक्त पारखजी की निजी प्रचुर वित्तसम्पत्ति सब ही लक्ष्मीचन्द व मनिराम के हस्तगत हो गई। इसीलिए देखा जाता है कि इस सूत्र से भी मनिराम के करोड़ों रुपया हाथ आया।

पहले सिंधिया प्रभृति राजगण राजस्व-संग्रह के लिए तहसीलदार, सूबा, वा कलक्टर प्रभृति किसी को नियत नहीं करते थे, बल्कि राज्य के भिन्न-भिन्न विभागों का भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को ठेका दे देते थे। ठेकेदार अपने-अपने इलाके का राजस्व संग्रह करके नियत समय पर राजकोष में भेज देते थे। इसमें बीच-बीच में घोरतर अत्याचार भी होता था। क्योंकि ठेकेदार अपनी स्वार्थसिद्धि के उद्देश्य से समय-समय पर निस्सहाय प्रजाकुल पर असीम अत्याचार करते थे। इसी हेतु से वे थोड़े ही दिन में प्रचुर धन के स्वामी बन जाते थे। यह ठेकेदारी की प्रथा नवाबों के समय में अवधराज्य में कैसे-कैसे अमानुषिक और हृद्विदारक अत्याचारों की उत्पादक होती थी यह बात मेजर जनरल स्लीमैन की लिखी 'माई जरनी इन दी किंगडम आफ अवध' पुस्तक पढ़ने से जानी जा सकती है।

*जैनधर्म के परित्याग पर उद्यत राधाकृष्ण जिससे अन्य धर्म को ग्रहण न करके वैष्णव धर्म ही ग्रहण करें, इस विषय में सेठ के घराने के कर्मचारीगण ने विशेष चेष्टा और परिश्रम किया था।

†रङ्गाचार्य वा रङ्गाचारी श्री सम्प्रदायभुक्त वैष्णव थे। गोवर्द्धन में जो श्रीवैष्णवों का एक मन्दिर है उस मन्दिर के एक श्रीनिवासाचार्य अध्यक्ष थे। इन्हीं श्रीनिवासाचार्य के प्रयत्न से वृन्दावन प्रान्त में रामानुजीय सिद्धान्तों का कुछ अंश में प्रचार हुआ था। प्रथम रङ्गाचार्य इन्हीं श्रीनिवासाचार्य के रसोइये थे। इसी सम्बन्ध में वे उनके पास कुछ अध्ययन

भी करते थे। क्रमशः वे उनके विशेष प्रीतिपात्र बन गये। उत्तर-काल में रङ्गाचार्य को ही अपने पद अर्थात् उस मन्दिर की अध्यक्षता पर प्रतिष्ठित करने के लिए श्रीनिवासाचार्य कृतसंकल्प हो गए और तदनुसार मृत्यु-समय में श्रीनिवासाचार्य ने रङ्गाचार्य का मान संभ्रम बढ़ गया।

जैनमत-परित्यागाभिलाषी राधाकृष्ण जब वैष्णव-मत में आस्थावान् हो कर उसे ग्रहण करने के इच्छुक और उद्यत हुए तो उन्होंने वृन्दावन में नन्दकुमार भट्ट एक प्रसिद्ध भागवताचार्य के पास जाकर यह इच्छा प्रकट की। नन्दकुमार ने सेठ जी की इस इच्छा को पूरा नहीं किया। वे राधाकृष्ण के जैनमतोद्भव होने के कारण घृणा और उपेक्षा के वशीभूत हो कर उन्हें वैष्णव मत में दीक्षित करने पर सम्मत नहीं हुए। यह बहुत सम्भव है कि यदि भट्टजी इस प्रकार सेठजी का निरादर न करते तो वे रङ्गाचार्य को गुरु बना कर कभी भी श्रीसम्प्रदायभुक्त न होते, यह अनेक लोगों का विश्वास है। फलतः रङ्गाचार्य को गुरु बनाने वा रङ्गाचार्य के गुरु बनने के विषय में मथुरा प्रान्त में आज तक भी एक जनश्रुति प्रचलित है। वह कथा यह है—

प्रथमतः—जब वैष्णवमत ग्रहण करने की इच्छा पूर्वक राधाकृष्ण एक योग्य गुरु के अन्वेषण में थे, तब रङ्गाचार्य की ओर से यह यत्न हो रहा था कि वे रंगाचार्य को गुरुपद पर आरूढ करके श्रीसम्प्रदायान्तर्निविष्ट हों। रंगाचार्य के कोई-कोई अनुचर उनके आदेश और प्रेरणा से सेठजी के पास आते जाते थे और इस विषय में उन्हें प्रोत्साहित करते थे।

द्वितीयतः—किसी दैवसूत्र से एक गुप्त धनराशि के रंगाचार्य अधिकारी हो गये थे। उस अयत्नलब्ध धनराशि को कहां और किस प्रकार रखें रंगाचार्य इस विषय में चिन्तातुर थे। ऐसे समय में जब उन्हें यह जान पाया कि सेठ राधाकृष्ण पैतृक धर्म को छोड़ कर वैष्णव धर्म ग्रहण करने के अभिलाषी हैं, तब उन्होंने ऐसा यत्न करने में कुछ भी त्रुटि नहीं की, जिससे कि सेठजी उन्हीं के सम्प्रदाय के वैष्णव हों। अन्त में अपने यत्न में कृतकृत्य होने पर राधाकृष्ण को श्रीसम्प्रदाय में प्रविष्ट करके उन्हें जितना हर्ष हुआ उतना ही वे उस अनायासप्राप्त धनराशि को उनके हाथ में सौंप कर निश्चिन्त और निरापद् हो गये।

तृतीयतः—शटकोपाचार्य नामी एक भगवन्निष्ठ वैष्णव उस समय मथुरा में रहते थे। शटकोपाचार्य का प्रागुक्त गोवर्द्धन के* मन्दिर से सम्बन्ध था, त्यागशीलता और परमार्थता के कारण शटकोपाचार्य राधाकृष्ण की विशेष श्रद्धा के पात्र थे। उन्होंने इस प्रश्न की कि किस व्यक्ति को गुरुस्थानारूढ करके वैष्णव मत की दीक्षा लें, मीमांसा का भार शटकोपाचार्य को सौंपा। शटकोपाचार्य ने सेठजी से रंगाचार्य का नाम उल्लेख किया और उसके अनुसार रंगाचार्य को गुरुपदाभिषिक्त करके अपने मनोरथसाधन में उद्यत हुए।

---

*इस प्रकार की जनश्रुति है कि यह गुप्त धन रंगाचार्य को उस समय हाथ आया था, जब वे गोवर्द्धन के मन्दिर में रहते थे। भरतपुर के राजा जवाहरसिंह ने १७३८ ई० में दिल्ली पर आक्रमण †करके तीन मास तक उसे यथेच्छ लूटा था। उस लूट में अपरिमित—

†History of Bharatpur, by Jwala Sahai. p. 80

कनिष्ठ गोविन्ददास ने भी राधाकृष्ण का अनुकरण किया, परन्तु लक्ष्मीचन्द पैतृक धर्म में पूर्ववत् अटल रहे। राधाकृष्ण और गोविन्ददास केवल रंगाचार्य को गुरुपद पर प्रतिष्ठित करके और केवल श्रीसम्प्रदायभुक्त होकर ही तुष्ट नहीं हुए बल्कि वृन्दावन में जो मन्दिर आजकल सेठजी के मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है, क्या शिल्प-कौशल में और क्या शोभासम्पद् में, वृन्दावन के सारे मन्दिरों में श्रेष्ठ माना जाता है, उसे उन्होंने बहुत-सा धन व्यय करके बनाया। मन्दिर में रंगजी की मूर्ति स्थापित की और उसकी सेवा के लिए यथोचित प्रबन्ध कर दिया* और अन्त में उस मन्दिर को और उससे संसृष्ट सारी सम्पत्ति को एक दानपत्र लिख कर। रंगाचार्य के चरणों में अर्पण करके जैसे दोनों भाई कृतकृत्य हुए वैसे ही उन्होंने गुरुभक्ति की पराकाष्ठा भी दिखाई।

—धन-रत्नादि लाए थे। यह गुप्त धन उसी धन-रत्नादि का सामान्य अंश था, ऐसा सुनने में आया है। सम्भवत: यह वित्तराशि गोवर्द्धन-मन्दिर के किसी निकटस्थ वा संलग्न स्थान में छिपी हुई थी और घटनावशात् रंगाचार्य के गोचरी भूत हो गई थी। दिल्ली की लूट का बहुत-सा स्वर्ण और मुद्रा आदि बरसाना ग्राम के एक कुयें में शायद आज भी छिपा पड़ा है।

*सेठ भ्रातृद्वय के वैष्णव-धर्मावलम्बन की घटना १९०० से १९०५ संवत् के बीच में किसी समय हुई थी। सम्भवत: दण्डीजी के मथुरा में आने और पाठशाला खोलने के थोड़े ही दिन पहिले हुई थी।

†वृन्दावन में ब्रह्मचारी के मन्दिर के पीछे जो मन्दिर 'लक्ष्मी नारायण का मन्दिर' प्रसिद्ध है, पहले सेठ जी ने उसी मन्दिर को बनाकर गुरुदेव के अर्पण किया था। परन्तु यह मन्दिर छोटा था और उनके मनोमत नहीं था, इसलिए दूसरा मन्दिर ४५ लाख रुपया व्यय करके बनवाया। उसका बनना १८४५ ई० में आरम्भ होकर सन् १८५१ में समाप्त हुआ। मद्रास के शिल्पियों ने उस मन्दिर को बनाया था*। मन्दिर के बनने और मूर्ति के अलङ्कारादि में प्राय: एक करोड़ रुपया व्यय हुआ था। इसके अतिरिक्त मूर्ति के सेवादि कार्य के लिए ६०,०००/- रुपए वार्षिक आय की सम्पत्ति उत्सर्गीकृत हुई थी।

श्रीमान् ग्राउस साहब ने लिखा है :—रङ्गजी के मन्दिर के सेवादि कार्य के निमित्त सेठों ने तेंतीस ग्राम अर्पित किए थे। ग्रामों की सब आय १,१७,०००/- रुपया थी। गवर्नमेण्ट को ३४,०००/- राजस्व देने के पीछे बाकी सब रुपया देवसेवा के लिए उत्सर्गीकृत हुआ था। रङ्गाचार्य के पुत्र श्रीनिवासाचार्य के दुराचार के कारण १८६८ ई० में मन्दिर और मन्दिर का संयुक्त समस्त धन-सम्पत्ति ट्रस्टियों के हस्त में न्यस्त करते समय २,०००/- रुपये का कोर्ट फीस स्टाम्प लगा था।

Growses' Mathura : A District Memoir. p. 261.

---

*केवल मद्रास के शिल्पिगण ने ही निर्मित नहीं किया था, बल्कि वह मद्रासी प्रणाली के अनुसार ही निर्मित हुआ था।

Growses' Mathura : A District Memoir. p. 260.

यह दानपत्र १८५७ ईस्वी की १८ मार्च को लिखा था।

फलतः प्रागुक्त प्रकार से सेठों के अन्य धर्मग्रहण करने की घटना ने मथुरावासियों को विस्मित कर दिया और मथुरा प्रान्त में क्या गृहस्थी क्या वैरागी सब की ही दृष्टि रंगाचार्य पर पड़ने लगी।

पाठक! अब हम अपने असली विषय का अनुसरण करेंगे। रंगाचार्य को आपके सामने लाने के लिए ही हम एक घूमदार रास्ते से घूमकर आए हैं। दण्डी जी की उल्लिखित पाठशाला के स्थापित होने के कुछ वर्ष पीछे ही कृष्ण शास्त्री नामी एक पंडित मथुरा में आकर पहुँचे। कृष्ण शास्त्री रंगाचार्य के शिक्षा-गुरु* प्रसिद्ध थे। इस के अतिरिक्त न्याय और व्याकरण में पारदर्शिता के कारण भी शास्त्री जी पण्डित मण्डली में समादृत थे। यह सहज ही में समझ में आ सकता है कि रंगाचार्य के मथुरावासी शिष्य सेठ उनकी सेवा में विशेष प्रकार से यत्नशील थे।

हम नहीं जानते कि किस कारण से उस समय मथुरा में एक शास्त्रार्थ का आन्दोलन हो गया था। वह एक व्याकरण के प्रश्न पर हुआ था। कोई-कोई कहते हैं, कि जैसे एक गुरु के विद्यार्थी के साथ दूसरे गुरु के विद्यार्थी के मिलने पर आपस में अपने आप ही शास्त्रार्थ की एक तरंग उठ खड़ी होती है, वैसे ही यह शास्त्रार्थ भी उठ खड़ा हुआ था। ऐसा हुआ कि उसवे एक पक्ष को विरजानन्द के दो विद्यार्थियों ने ले लिया औरदूसरे पक्ष को कृष्ण शास्त्री के विद्यार्थी लक्ष्मण ज्योतिषी और मूड़मुडिया पण्ड्या ने ले लिया। परन्तु यह बात ठीक नहीं है क्योंकि यद्यपि रंगदत्त चौबे और गंगादत्त चौबे† विरजानन्द के विद्यार्थी थे परन्तु लक्ष्मण ज्योतिषी अथवा मूड़मुड़िया में से कोई भी कृष्ण शास्त्री का विद्यार्थी नहीं था। इसलिए निस्सन्देह है कि यह शास्त्रार्थ वैसा नहीं था, जैसा एक दल के विद्यार्थियों का दूसरे दल के विद्यार्थियों से मिलने से हो जाता है।

रङ्गाचार्य ने कृष्ण शास्त्रीके पास कुछ दिन अध्ययन किया था। गोवर्द्धन के श्रीनिवासाचार्य के पास रङ्गाचार्य के अध्ययन की बात पहले कही जा चुकी है। इसके भिन्न बंगाल के नैयायिक पण्डित गोलोकनाथ न्यायरत्न के अन्यतम शिष्य थे। पण्डित विद्यावाचस्पति के समान पण्डित कृष्ण शास्त्री भी नवद्वीप के ही अधीती थे।

†यह भ्रम पूर्वोक्त लेखराम-रचित विरजानन्द-विवरण में प्रकाशित हुआ है। लक्ष्मण ज्योतिषी की बाबत प्रसिद्ध है कि वह सेठ-परिवार के ज्योतिषी और उनके वैयाकरण थे। और मूड़मुड़िया पूर्वोल्लिखित द्वारिकाधीश के मन्दिर के अध्यक्ष। इसलिए उनमें से कोई भी कृष्ण शास्त्री का शिष्य नहीं था।

---

*आलोकनाथ न्यायरत्न और गोलोकनाथ न्यायरत्न नामी श्रीराम शिरोमणि के दो प्रवीण छात्र थे। गोलोकनाथ न्यायशास्त्र के एक असाधारण पण्डित हो गये थे। दुःख का विषय हैं कि ४४ वर्ष की आयु में सन् १८५४ ई० में इस नवीन नैयायिक ने इस लोक का परित्याग किया। नवद्वीप माहात्म्य पृष्ठ १०४

परन्तु यदि ये दोनों व्यक्ति कृष्ण शास्त्री के छात्र नहीं थे तो उन्होंने शास्त्रार्थ के दूसरे पक्ष का अवलम्बन क्यों किया ? इसके उत्तर में इतना ही कहा जा सकता है कि कृष्ण शास्त्री के मथुरा आने के पश्चात् कितने ही लोगों ने यह इच्छा प्रकट की थी कि विरजानन्द के साथ कृष्णशास्त्री का शास्त्रार्थ होना चाहिए। इस सम्बन्ध में रंगाचार्य के अनुवर्त्तिगण बहुत उत्सुक दिखाई देते थे। चूंकि इस प्रस्तावित शास्त्रार्थ के पक्ष में क्या कृष्ण शास्त्री और क्या दण्डी जी दोनों ही सम्मत थे, इसलिए यह स्थिरीकृत विषयों के भीतर परिगणित होने लगा था कि शीघ्र ही मथुरागत कृष्ण शास्त्री का दण्डी जी के साथ समारम्भ होगा। और इस शास्त्रीय समर का संवाद भी लोकसाधारण के बीच में फैल गया था। मथुरावासी लोग कुतूहल के साथ समर के दिन की प्रतीक्षा कर रहे थे। इस अन्तर में सेठ राधाकृष्ण आदि ने सोच कर देखा कि विरजानन्द की शास्त्रदर्शिता इतनी गम्भीर है, उनकी बुद्धि इतनी तीक्ष्ण है, उनकी स्मरण शक्ति इतनी अद्भुत है और इन सब कारणों से वह शास्त्रार्थ की समरभूमि में साधारणतया इतने अजेय हैं कि संकल्पित शास्त्रार्थ में शास्त्री जी को विरजानन्द के सम्मुख करना कभी भी युक्तिसंगत नहीं होगा। जो कृष्ण शास्त्री आज मथुरावास में सेठ जी के अतिथि बनकर रहते और प्रतिष्ठा पाते हैं, वे कृष्ण शास्त्री यदि सेठ जी से सम्बन्ध रखने वाले वा उनके किए हुए किसी कार्य से किसी अंश में भी अपने को अपमानित वा अप्रतिभ समझने लगें तो सेठ जी के इससे अधिक परिताप का विषय और क्या होगा ? सुतराम् वह शास्त्री जी को विरजानन्द के सम्मुख करने में किसी प्रकार भी सम्मत वा साहसी नहीं हुए। परन्तु दूसरी ओर शास्त्रार्थ के संकल्प का भी परित्याग नहीं हो सकता था, क्योंकि शास्त्रार्थ की चर्चा इस से पहले ही फैल चुकी थी और उसके लिए दण्डी जी जैसे आहूत हुये थे, वैसे ही उद्यत भी थे। ऐसी दशा में राधाकृष्ण ने किसी न किसी कौशल का अवलम्बन करना ही श्रेयस्कर समझा। जैसे मूड़मृड़िया पण्ड्या सेठ जी के अनुगत थे वैसे ही लक्ष्मण ज्योतिषी भी सेठ जी के आश्रित प्रसिद्ध थे। लक्ष्मण और मूड़मुड़िया दोनों ही लोक साधारण में संस्कृतज्ञ प्रसिद्ध थे। इसलिए राधाकृष्ण ने यही निरापद समझा कि कृष्ण शास्त्रो को पश्चाद्वर्त्ती वा अन्तरावर्त्ती रखा जाए तथा लक्ष्मण और मूड़मृड़िया को पुरोभाग में रख कर दण्डी जी के साथ प्रस्तावित शास्त्रार्थ कराया जाए। इसलिए शीघ्र हीं मशहूर करा दिया गया कि उपस्थित शास्त्रार्थ में कृष्ण शास्त्री विरजानन्द के सम्मुख नहीं होंगे। बल्कि लक्ष्मण ज्योतिषी और मूड़मुड़िया पण्ड्या ही शास्त्री जी के प्रतिनिधि वा पक्षावलम्बी बनकर विरजानन्द के सम्मुख होकर शास्त्रार्थ करेंगे। परन्तु ऐसा होने पर भी कि मूड़मृड़िया और लक्ष्मण, कृष्ण शास्त्री के पक्षावलम्बी होकर खड़े होंगे ; यह बात मथुरा के किसी बुद्धिमान् से छिपी न थी कि मूलतः और वस्तुतः शास्त्रार्थ कृष्ण शास्त्री और दण्डी जी का ही था।

जब उस ओर यह बात दण्डी जी के कर्णगोचर हुई कि शास्त्री जी उनके सम्मुख होकर शास्त्रार्थ नहीं करेंगे, तब उन्होंने भी शास्त्री जी के सम्मुख न होने

पर शास्त्रार्थ करने में असम्मति प्रकट की और चौबे रंगदत्त और चौबे गंगादत्त नामक विद्यार्थियों को शास्त्री जी के पूर्वोक्त प्रतिनिधियों के साथ शास्त्रार्थ करने के लिए नियोजित कर दिया। शास्त्रार्थ व्याकरण-विषयक था। शास्त्रार्थ इसी पर था कि 'अजाद्युक्तिः' में कौन समास है? लक्ष्मण ज्योतिषी और मूड़मुड़िया पण्ड्या कहते थे कि 'अजाद्युक्तिः' में सप्तमीतत्पुरुष है और चौबे रंगदत्त और गंगादत्त कहते थे कि षष्ठीतत्पुरुष है। दोनों विद्यार्थी, विद्यार्थी ही थे। जब यह संशय आकर उपस्थित हुआ तो इस विषय में सर्वतोभावेन निःसंशय होने के अभिप्राय से गुरु जी के पास आकर उन्होंने सब वृत्तान्त कहा। विरजानन्द ने शास्त्रार्थ की कार्यवाही को सुनकर अपने शिष्य युगल का अनुमोदन करते हुए कहा कि 'अजाद्युक्तिः' सिवाय षष्ठी समास के सप्तमी नहीं हो सकता। रंगदत्त और गंगादत्त अतीव हृष्ट और उत्साही मन के साथ यह घोषणा करते फिरने लगे कि 'अजाद्युक्तिः' षष्ठीसमास ही है और हमारा ही पक्ष ठीक है। उधर कृष्ण शास्त्री के दोनों प्रतिनिधि भी कृष्ण शास्त्री के पास जाकर जिज्ञासु हुए। तब कृष्ण शास्त्री उनसे बार-बार यही कहने लगे कि 'अजाद्युक्तिः' सप्तमी है और सप्तमी को छोड़ किसी प्रकार भी षष्ठी नहीं हो सकता।

यदि विरजानन्द को तेजस्विता और सत्यनिष्ठा का अवतार भी कहा जाए तो अत्युक्ति नहीं होगी। जब उन्होंने सुना कि कृष्ण शास्त्री स्वयं 'आजद्युक्तिः' को सप्तमी निर्धारित करते हैं, तब वे क्रुद्ध हुए बिना न रह सके। उन्होंने उसी समय रंगदत्त और गंगादत्त को बुला कर कहा कि जाओ और कृष्ण शास्त्री से जाकर कहो कि इस विषय में वे भ्रान्त हैं। 'अजाद्युक्तिः' में षष्ठी के भिन्न सप्तमी नहीं हो सकती। मैं इस विषय में उन से शास्त्रार्थ करने पर उद्यत हूँ। दोनों शिष्यों ने गुरु की आज्ञा के अनुसार कार्य किया। कृष्ण शास्त्री को दुबारा शास्त्रयुद्ध में सम्मुख होकर लड़ने को दण्डी जी की ओर से आहूत किया गया। यह देख कर सेठ राधाकृष्ण आदि फिर चित्त में आकुल हुए। यह जान कर कि जिस विपद् से कौशल का जाल बिछा कर शास्त्री जी को एक बार बचाया था, फिर उसी विपद् में पड़ गये। वे बहुत अशान्त हुए। मथुराधाम में कृष्ण शास्त्री की गौरव-पताका फहराने के उद्देश्य से वा कृष्ण शास्त्री के व्याकरण-वीरत्व को स्थापन करने के अभिप्राय से, और किसी न किसी तरह मथुराधाम में यह प्रचारित करने के संकल्प से, कि उनके गुरुदेव के गुरु, विरजानन्द की अपेक्षा एक उच्चतर श्रेणी के वैयाकरण हैं, सेठ राधाकृष्ण न केवल कृतसंकल्प ही थे, वरन् कृतप्रतिज्ञ भी थे। इस लिए सेठ जी के लिए एक और कौशल को उद्भावित और अवलम्बित करना आवश्यक हो गया।

'अजाद्युक्तिः' पर कृष्ण शास्त्री के साथ दण्डी जी का शास्त्रयुद्ध होगा, यह संवाद शीघ्र ही मथुरा नगर में फैल गया। युद्धभूमि नियत हो गई। युद्ध का समय भी निरूपित हो गया और युद्धघटित जय-पराजय की शर्त तक स्थिरीकृत हो गई। कृष्ण शास्त्री ने दो सौ रुपया उपस्थित कर दिया और यद्यपि विरजानन्द संन्यासी

थे और उनकी पीठ पर कोई पारितोषिक न था, जैसा कि कृष्ण शास्त्री की पीठ पर था तो भी उन्होंने भी दो सौ रुपया भिजवा दिया और सेठ राधाकृष्ण ने भी एक सौ रुपया दिया। इस प्रकार पाँच सौ रुपया इकठ्ठा हो गया और दोनों पक्षों की सम्मति के अनुसार यह निर्धारित हुआ कि जो कोई विजयी होगा, वही इन पांच सौ रुपयों का अधिकारी होगा।

प्रस्तावित शास्त्रार्थ के दिन मथुरा के बहुत से लोग प्रातःकाल से ही उत्सुक थे। निर्दिष्ट समय से पहले ही गतश्रम नारायण का मन्दिर लोकमण्डली से परिपूर्ण हो गया। लक्ष्मण ज्योतिषी और मूड़मुड़िया पण्ड्या नियत समय पर आ पहुंचे। रंगदत्त और गंगादत्त भी आकर उपस्थित हो गये। विरजानन्द की यह प्रतिज्ञा थी कि जब उन्होंने कृष्ण शास्त्री को शास्त्रार्थ के लिए आहूत किया है तो वह कृष्ण शास्त्री के साथ ही शास्त्रार्थ करेंगे और किसी के साथ न करेंगे। इस लिए यह पहले से ही स्थिर हो गया था कि यदि कृष्ण शास्त्री सभा में नहीं आवेंगे तो वे किसी तरह भी सभा में न जावेंगे। और इसलिए उन्होंने अपने दोनों विद्यार्थियों को यह आज्ञा दे दी थी कि कृष्ण शास्त्री के सभा में आने के साथ ही तुम हमें खबर कर देना। इसी हेतु से रंगदत्त और गंगादत्त सभा में बैठे हुए पल-पल शास्त्री जी की प्रतीक्षा करने लगे। परन्तु कृष्ण शास्त्री किसी भी तरह नहीं आये। कुछ देर के पश्चात् दोनों चौबे विद्यार्थियों ने आकर विरजानन्द को खबर दी कि अब तक शास्त्री जी सभा में नहीं आये और मालूम होता है कि आवेंगे भी नहीं। तब विरजानन्द ने समझ लिया कि कृष्ण शास्त्री किसी प्रकार भी समर में उन के सम्मुख होने पर उद्यत नहीं हैं। फलतः यह कह कर कि यदि कृष्ण शास्त्री सभा में न आवेंगे तो हम भी नहीं जावेंगे, वे अपने स्थान पर ही बैठे रहे। रंगदत्त और गंगादत्त ने सभा में फिर जाकर देखा तो तब भी शास्त्री जी को अनुपस्थित पाया। कुछ देर के पश्चात् सेठ राधाकृष्ण आकर सभा में उपस्थित हुए। उन्हें देख कर अनेक लोगों ने अनुमान किया कि अब शास्त्री जी भी आते ही होंगे, परन्तु फिर भी शास्त्री जी नहीं आये। यह देख कर कि दो सेनापतियों में से एक भी समर भूमि में उपस्थित नहीं हुआ, अनेक श्रोतृवर्ग मन में उद्विग्न हो उठे और उनके मुखों पर अधीरता के चिह्न दिखाई देने लगे। ऐसे समय में सेठ राधाकृष्ण ने सभाध्यक्ष की स्थिति से दो चार बातें कह कर और विरजानन्द के दोनो विद्यार्थियों का लक्ष्मण और मूड़मुड़िया के साथ नाममात्र का शास्त्रार्थ करा कर प्रसिद्ध कर दिया कि 'विरजानन्द परास्त हो गये' और इस प्रकार सभा का कार्य समाप्त हो गया। अन्त में शर्त का रुपया किसी पक्ष को न देकर मथुरा के चौबों में बाँट दिया गया। दण्डी जी के दीप्त गौरव को लुप्त करने के अभिप्राय से और उसके साथ अपने गुरु के गुरु की वैयाकरणों में प्रतिष्ठा स्थापित करने की इच्छा से राधाकृष्ण इस दूसरे कौशलावलम्बन से भी सन्तुष्ट नहीं हुए। 'दण्डी जी परास्त हो गये'—इस सर्वथा मिथ्या बात को सभा मण्डप में प्रचारित करने पर भी उन्हें तृप्ति नहीं हुई, इसलिए वे एक मनुष्य को काशी भेजने के लिए शीघ्रता करने लगे। और किसी व्यक्ति विशेष को बहुत-साधन देकर काशी भेज दिया। सेठ जी के भेजे

हुए मनुष्य ने काशी पहुँच कर वहां की पण्डित मण्डली से 'अजाद्युक्तिः' शास्त्रार्थ का आनुपूर्वक विवरण प्रकट किया। और जिस उद्देश्य से उसे काशी भेजा गया था, वह भी उसने स्पष्ट कहा। मथुरा से आये हुए मनुष्य से यह बात सुनकर काशी का पण्डित समाज जितना हृष्ट हुआ, उतना ही चिन्तित भी हुआ।

पाठक! क्या इस बात के कहने से कोई दोष आएगा कि भारत के शास्त्री-समाज से सत्यनिष्ठा विदा हो गई है? क्या इस बात के कहने में कोई अन्याय होगा कि विशेष कर काशी की पण्डित मण्डली अर्थात् व्यवस्था-विक्रेता पण्डितमण्डली का सत्यनिष्ठा वा सत्यपरायणता से बहुत ही कम सम्पर्क है? क्या उन लोगों से किसी सच्ची बात के सुनने वा किसी सच्ची मीमांसा के पाने की आशा हो सकती है, जो व्यवस्था के बाजार में बैठ कर सत्य को मिथ्या और मिथ्या को सत्य के रूप में प्रचारित करने पर बद्धपरिकर हैं, जो मूल्य के तारतम्य के अनुसार जिस विषय को एक बार वेध बतलाते हैं, उसी विषय को कुछ ही क्षण के पश्चात् अम्लानवदन से अवैध करके घोषणा करते हैं? कभी नहीं। इसी कारण से यद्यपि वे दण्डी जी के पक्ष को सत्य जानते थे और अजाद्युक्तिः को षष्ठीसमास समझते थे तथापि उन्होंने असंकुचित हृदय से कृष्णशास्त्री के मतानुसार ही अपनी सम्मति प्रकट की और सेठ जी के भेजे हुए धन से अपनी उदर इच्छा परिपूर्ण की[6]। काशी से उस व्यवस्था के मीमांसा-पत्र को लेकर सेठ जी का व्यक्ति यथा समय मथुरा लौट कर आ गया। राधाकृष्ण और उनके अनुचर इस मीमांसा-पत्र को देख कर बहुत ही प्रसन्न हुए और मथुरा में सर्वत्र मुक्तकण्ठ से यह बात प्रचारित करने लगे कि काशी के पण्डित-वर्ग ने भी कृष्ण शास्त्री के ही पक्ष का अनुमोदन किया है कि अजाद्युक्तिः सप्तमी तत्पुरुष ही है। शास्त्री जी की जयजयकार तो इससे पहले ही हो चुकी थी अब वह दुगनी हो कर चारों दिशाओं में फैल गई। कृष्ण शास्त्री ने अब कण्ठ में जयमाला पहनी और उन्होंने बहुत ही प्रसन्नचित्त होकर मथुरा का त्याग किया। फलतः गुरुदेव के गुरु को इस प्रकार प्रीत, सम्मानित और संवर्द्धित करके सेठ लोगों ने शायद अपनी गुरुभक्ति को और भी बढ़ा दिया होगा।

पाठक! एक बार हम फिर इन नेत्रहीन अध्यापक के पास चलते हैं। वे अपनी पाठशाला की कोठरी में बैठे क्या कर रहे हैं, क्या सोच रहे हैं? इसे चलकर देखें। यह निश्चय है कि उन्होंने गतश्रम की झूठी सभा के झूठे सिद्धान्त की कथा सुन ली है। उन्हें राधाकृष्ण का प्रचारित किया हुआ अपने अमूलक पराभव का संवाद भी ज्ञात हो गया है। उन्हें यह भी मालूम हो गया है कि अपने गुरु के गुरु के व्याकरण-गौरव को उज्ज्वलतर बनाने के लिए सेठ राधाकृष्ण ने पदे-पदे सत्य और शिष्ट नीति का अतिक्रमण किया है। इसके भिन्न उन्होंने काशी के मीमांसा पत्र की बात भी सुन ली है। मीमांसा पत्र के संवाद से दण्डी जी जितने विस्मित हुए उतने ही उत्तेजित भी हुए। जब कभी भी वे किसी बात को सत्यविरुद्ध समझते, उसका प्रतिवाद किये बिना नहीं रह सकते थे। इसी कारण से बिना विलम्ब के विरजानन्द ने काशी के पण्डितवर्ग से पत्र भेज कर जिज्ञासा की कि उन्होंने किस प्रमाण के बल पर इस प्रकार की मीमांसा भेजी है। इस पत्र को पाकर पण्डितवर्ग

कुछ दिन तक तो इतस्ततः करते रहे क्योंकि दण्डी जी के पत्र का तिरस्कार करने का उनमें साहस नहीं था। और अन्त में उन्होंने यह लिखकर भेज दिया कि अजाद्युक्तिः के विचार में आपका ही सिद्धान्त ठीक है. परन्तु हम क्या करें कोई उपायान्तर नहीं है, क्योंकि इससे पहले हम कृष्ण शास्त्री के पक्ष का अनुमोदन कर चुके हैं। इस प्रकार के पत्र से विरजानन्द का क्रोध और भी बढ़ गया, क्योंकि उनको बिल्कुल विश्वास न था, कि काशी के पण्डितगण रुपये के लिए इतनी सीमा तक असत्य का विक्रय वा सत्य का विक्रय कर सकते हैं। इस नाम-मात्र के शास्त्रार्थ में आरम्भ से लेकर अन्त तक सेठ राधाकृष्ण के असाधु और अन्याययुक्त व्यवहार का परिचय पाकर विरजानन्द जितने विरक्त और क्रुद्ध हुए थे* काशी के पण्डितों की इस प्रकार की मीमांसा को देखकर वे उतने ही चिन्तान्वित हुए।

उल्लिखित शास्त्रार्थ के व्यापार ने दण्डी जी को इतना उत्तेजित कर दिया कि उन्होंने मथुरा के कलक्टर साहब के पास जाकर कहा कि सेठ राधाकृष्ण ने झूठ-मूठ एक शास्त्रार्थ के धोखे से हमारे रुपये ले लिए हैं, आप इन रुपयों को वापिस दिलाने का यत्न करें और उन्होंने आगरा जा कर वहां के जज श्रीयुत पण्डित चिरंजीव शास्त्री से भी अनुरोध किया था। काशी के पण्डितों की इस प्रकार की मीमांसा को देख कर वे इतने विरक्त हो गये थे कि काशी के पण्डितों पर कटाक्षपूर्ण "कथं काशी विदुष्मती" पदान्तक एक श्लोकाष्टक भी रचा था। यह सुना जाता है कि विरजानन्द के अद्वितीय शिष्य दयानन्द को यह श्लोकाष्टक कण्ठस्थ था।

---

*पण्डित लेखराम ने अपनी उल्लिखित पुस्तक के १२वें पृष्ठ में लिखा है. कि उपस्थित विषय के सम्बन्ध में विरजानन्द मथुरा के कलक्टर अलेकजण्डर साहब के पास गये थे। उस समय अर्थात् अजाद्युक्तिः के शास्त्रार्थ के समय वा उसके समकाल में अलेक्जण्डर साहब मथुरा के कलक्टर थे वा नहीं इसमें बहुत सन्देह है।

(८) पाणिनि-प्रचार

इस घटना के पश्चात् मथुरा की पाठशाला में एक युगान्तर उपस्थित हुआ। सिद्धान्त-कौमुदी, शेखर[1], चन्द्रिका, मनोरमादि व्याकरण के ग्रन्थ जिनका इतने दिन से पाठशाला में पठन-पाठन होता चला आ रहा था; एक बार ही बहिष्कृत कर दिये गये और एक मात्र पाणिनिऋषिप्रणीत अष्टाध्यायी ने ही उनके स्थान पर अधिकार कर लिया। विरजानन्द ने कौमुदी आदि पुस्तकों का पठन-पाठन यहाँ तक कि उनके नाम की गन्ध तक उठा दी और वे पाणिनीय सूत्रमाला को लेकर बैठ गये और इसी सूत्र माला के प्रचार पर बद्ध परिकर हो गये। सुतराम् मथुरा की पाठशाला में अब तक तो कौमुदी का युग था और अब से पाणिनि का युग हो गया।

परन्तु इस प्रकार के मौलिक परिवर्तन का क्या कारण था? जो कौमुदी आदि व्याकरणमाला भारत में सर्वत्र बहुत काल से पठित, प्रचारित और पूजित होती चली आती है, जिन कौमुदी आदि व्याकरणों का विरजानन्द स्वयम् इतने दिन से पठन-पाठन करते चले आ रहे हैं, उन्हीं कौमुदी आदि का पठन-पाठन एक बार ही परित्यक्त हो गया। केवल परित्यक्त ही हुआ हो ऐसा नहीं है, वे यह घोषणा करने लगे कि इन ग्रंथों के प्रभाव से भारत के साहित्य में सविशेष अनर्थ हुआ है, भारत के शास्त्र और धर्म में बहुत से असत्यों ने आश्रय पाया है। केवल इतना ही नहीं, उन्होंने यह भी प्रचार किया कि भट्टो जी दीक्षित भारत-भूमि में एक धूर्त* हो गया है। कैसा घोरतर परिवर्तन है, कैसी असीम

---

*दण्डी जी भट्टोजी को कभी धूर्त और कभी-कभी मूर्ख भी कहा करते थे। और जिन्होंने भट्टोजी का अनुसरण करके वा सिद्धान्तकौमुदी का अनुवर्तन करके व्याकरण के अन्यान्य ग्रन्थ रचे हैं, उन्हें भी धूर्त वा मूर्ख कहा करते थे। क्योंकि उनकी धारणा थी कि मूर्ख का अनुसरणकर्ता भी मूर्ख ही होता है, अन्य कुछ नहीं हो सकता। इसलिए विशेषकर शब्देन्दु-शेखर के कर्ता नागेश भट्ट भी कभी-कभी विरजानन्द की ओर से मूर्ख शब्द से सम्बोधित हुआ करते थे। उल्लिखित लेखराम ने लिखा है कि विरजानन्द ने अपनी पाठशाला के मकान में एक पत्थर का टुकड़ा रखवाया था और उसको भट्टोजी दीक्षित नाम दिया था और उस प्रस्तरखण्ड रूपी भट्टोजी दीक्षित के पास एक जूता भी रखवा दिया था। जब कभी कोई विद्यार्थी पाठशाला में आकर प्रविष्ट होता था तो विरजानन्द उसे उस प्रस्तरखण्ड रूपी भट्टो जी दीक्षित के जूते लगाने को कहते थे। इस प्रकार उस सिद्धान्तकौमुदी के कर्ता को दिन में सौ बार प्रहारित और अपमानित कराकर वह चित्त में प्रसन्नता लाभ करते थे (लेखराम का उर्दू भाषा में लिखा हुआ और हिन्दी में अनुवादित विरजानन्द का जीवन चरित्र पृष्ठ ३०)। विरजानन्द के विद्यार्थियों में से क्या युगल किशोर, क्या श्यामसुन्दर पांडे, क्या पुरुषोत्तम—

साहसिकता है, इस देश की टोल चतुष्पाठी के इतिहास में ऐसा परिवर्तन क्या कभी हुआ है ? प्राचीन शिक्षा पद्धति के प्रसंग में क्या किसी ने ऐसे युगान्तरजनक व्यापार की बात सुनी है ? क्या किसी को ज्ञान है कि हमारे अन्ध अध्यापक के समान मध्ययुग में, वा आधुनिक समय में, गौड़ वा द्राविड़, मिथिला, महाराष्ट्र किसी समय वा किसी प्रदेश का कोई आचार्य वा कोई अध्यापक युगान्तर प्रवर्तक हुआ है ? इस सम्बन्ध में एक और बात भी चिन्तनीय है। दण्डी जी ने इतना बड़ा परिवर्तन किया परन्तु इस विषय में इस से पहले क्या सोरों में क्या अलवर में कहीं एक बात का भी किसी ने इङ्गित रूप से भी प्रकाश नहीं किया था। अजाद्युक्तिः का शास्त्रार्थ हुआ और उन्होंने अपनी पठन-पाठन प्रणाली को मूल से परिवर्त्तित कर दिया। कौमुदी आदि व्याकरण के विरोधी हो गये। और पाणिनि के प्रचार में धृतास्त्र हो गये। इसका क्या कारण था ? अस्तु ! इस विषय की थोड़ी-सी आलोचना करनी आवश्यक है।

एक पुराने और शिक्षित मथुरावासी से सुना गया था कि काशी से कृष्ण शास्त्री के अनुकूल मीमांसा आने पर विरजानन्द चिन्तान्वित हो गये थे। उन्होंने पाठशाला में पढ़ाने का काम बन्द कर दिया था, लोगों से बातचीत तक करनी छोड़ दी थी और घर में अकेले बैठे-बैठे केवल चिन्ता ही किया करते थे।

इस प्रकार कितने ही दिन चिन्ताविष्ट अवस्था में काट कर एक दिन उन्होंने कहा "भट्टो जी मूर्ख था"। और इतना कहने के पश्चात् उन्होंने अष्टाध्यायी का प्रचार करना आरम्भ कर दिया।

इस विषय में पण्डित युगलकिशोर शास्त्री की जो धारणा थी उसे हम यहाँ प्रकट करना उचित समझते हैं। अजाद्युक्तिः के शास्त्रार्थ में जब उन्होंने यह निर्धारित कर लिया कि षष्ठीतत्पुरुष समास है तब वह यह जानने के लिए उत्सुक हुए कि उनका निर्धारण कहां तक संगत वा प्रमाणान्वित है। इस आलोचना में उन्होंने जान पाया कि उनके उपर्युक्त सिद्धान्त का अष्टाध्यायी ही अनुमोदन करती है। 'कर्तृकर्मणोः कृति'[3] सूत्र की सहायता से उन्होंने जाना कि पाणिनि से ही उनके सिद्धान्त का समर्थन होता है। इस बात को जान कर वे जी में बहुत ही हर्षित हुए और वैयाकरणों में पाणिनि को ही सर्वोच्च आसन देने पर उद्यत हो

—चौबे सब ही ने एक वाक्य होकर ग्रन्थकार से कहा है कि यह बात सर्वथा ही अमूलक है[2] और आज भी दण्डी जी के जीवित शिष्य श्रीमान् बनमाली चौबे ने पिछले वर्ष इस घटना के मिथ्यात्व को बार-बार स्वीकार करके कहा था कि "विरजानन्द के समान एक ज्ञानी और तत्त्वदर्शी के लिए ऐसा कलंकार्पण अत्यन्त धृष्टता और निर्बुद्धिता का परिचायक है"। फलतः अष्टाध्यायी भिन्न अन्यान्य व्याकरणों के सम्बन्ध में और पाणिनि के सिवाय अपरापर व्याकरण कर्ताओं के विषय में विरजानन्द किस भाव को प्रकट करते थे यह उनके रचे हुए श्लोक के पढ़ने से ज्ञात हो सकता है। वह श्लोक यह है—'अष्टाध्यायी महाभाष्यं द्वे व्याकरणपुस्तके। अतोऽन्यत्पुस्तकं यत्तु तत्सर्वं धूर्तचेष्टितम्"।

गये। फलतः अष्टाध्यायी की ओर इस प्रकार आकृष्टचित्त हो कर उन्होंने उसकी नियमित रूप से आलोचना करनी आरम्भ कर दी। इसके साथ ही अष्टाध्यायी के अद्वितीय भाष्यस्वरूप महाभाष्य की चर्चा में भी वे मनोयोगी हो गये। प्रतिदिन सन्ध्या के समय अष्टाध्यायी और महाभाष्य का विरजानन्द के सामने पाठ होता था*। और वे एकाग्रचित्त होकर उस पाठ को सुनते थे। कभी-कभी प्रहर भर से अधिक रात्रि बीतने तक पाठ होता रहता था। पाठ समाप्ति के पश्चात् जब विद्यार्थी वा विद्यार्थीगण चले जाते तब दण्डी जी उस सुने हुए पाठ को मनोआयत्व करने के लिए एकान्त में जाकर बैठते। उस पाठ पर वे कभी विचार करते, कभी चिन्ता करते, कभी किसी गूढ़ विषय की मीमांसा करने के लिए आधी रात तक ध्यानावस्थित रहते। प्रातःकाल जब कोई विद्यार्थी पाठशाला में आता तो यह देखने के लिये कि गतरात्रि में पढ़े हुये पाठ का कहां तक अभ्यास हुआ है, उसे हाथ में पुस्तक लेने को कहते और उस गृहीत पाठमाला को यथायथ रूप से अनर्गल भाव से सुना कर विद्यार्थी को और अन्य लोगों को विस्मित करते। इस प्रकार समस्त अष्टाध्यायी और समस्त महाभाष्य दण्डी जी के कण्ठस्थ हो गया था। अष्टाध्यायी और महाभाष्य में उन्होंने जितना भी प्रवेश किया और इन दोनों ग्रन्थों के वे जितने भी मर्म्मग्राही होते गये, उतने ही वे उनकी गुणगरिमा से आकृष्ट होते गये। और अष्टाध्यायी महाभाष्य की ओर वे जितने ही आकृष्टचित्त होते गये, कौमुदी आदि अप्राचीन व्याकरण ग्रन्थों से वे उतने ही वीतश्रद्ध होते गये। इस प्रकार कौमुदी आदि ग्रन्थों का संश्रव परिहार करके वे पाणिनि के अत्यन्त भक्त हो गये। और पाणिनि के प्रचार में ही जीवन अर्पण करना दण्डी जी ने श्रेयस्कर समझ लिया।

पाठक! विरजानन्द के कौमुदी आदि व्याकरणों के संश्रव के परिहार और पाणिनि के प्रचार विषय में जो दो कारण ऊपर लिखे गये हैं, क्या वे यथेष्ट हैं? यदि ऐसा होता तो वे पाणिनि के पठन पाठन को आरम्भ करके और उस में नियोजित रह कर सन्तुष्ट रहते। परन्तु क्या वे इस प्रकार सन्तुष्ट हो सके? क्या वे मथुरा की ही पाठशाला में ही पाणिनि की प्रतिष्ठा स्थापित करके चुप हो रहे? नहीं प्रत्युत वे सारस्वत, कौमुदी आदि की असारता, भ्रान्तिपूर्णता और अनर्थकारिता की भी सतेज होकर घोषणा करने लगे। और वे सातिशय उत्सुक हो उठे, जिस से कि कौमुदी आदि पुस्तक आगे को व्याकरण नाम से न पुकारी जाए, जिससे कि इन पुस्तकों का पठन पाठन सब स्थानों से उठ जाय, जिससे कि

---

*दण्डी जी के विद्यार्थियों में से आज भी श्री बनमाली चौबे विद्यमान हैं उन्होंने ग्रन्थकार को एक पत्र में एक स्थान में लिखा है। "मैं प्रतिदिन रात्रि में दो घण्टा परिश्रम करके नियमित रूप से पाँच-पाँच पृष्ठ करके स्वामी विरजानन्द को महाभाष्य कण्ठस्थ कराया करता था।" चौबे जी किस समय ऐसा किया करते थे और कितने दिन तक उन्होंने ऐसा किया इसका उल्लेख नहीं है। यह उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि यह घटना संवत् १९२० के पहले की है।

भारतभूमि में सर्वत्र पाणिनि के पठन पाठन का ही प्रचार हो जाए। हम पूछते हैं कि यह सारा उद्यम और यत्न क्या स्वल्प कालीन चिन्ता का फल हो सकता है ? जिस अनुष्ठान के विषय में अनुमान हो कि वह एक न एक दिन आर्य जाति के साहित्य में, शिक्षा-विभाग में, और धर्म क्षेत्र में परिवर्तन के प्रबलतरङ्ग को उत्पन्न करेगा, क्या वह अनुष्ठान आकस्मिक वा सामयिक विचार का फल हो सकता है ? इसके अतिरिक्त, जब जब दण्डी जी अष्टाध्यायी की श्रेष्ठता प्रतिपादन करते थे और कौमुदी आदि की निकृष्टता के वर्णन में प्रवृत्त होते थे, भट्टोजी दीक्षित आदि के व्याकरणों की भ्रान्ति दिखाने में हस्तक्षेप करते थे, तब तब वे इतनी निश्चयता, इतनी दृढ़ता और ऐसी निर्भीकता के साथ करते थे कि सुबोध मनुष्यों को यह प्रतीत होता था कि दण्डी जी ने इन सब बातों पर बहुत काल तक पूर्व से विचार और आलोचना करके उनकी मीमांसा की है। यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि उल्लिखित शास्त्रार्थ ने व्याकरण विषय में दण्डी जी को बहुत मनोयोगी बना दिया था। अन्यान्य व्याकरण ग्रन्थों के साथ पाणिनि की तुलना और समालोचना करने में उत्साहित कर दिया था। और इस प्रकार पाणिनि के ज्ञान में अत्यन्त प्रगाढ़ और परिपक्व करके अन्त में विरजानन्द को पाणिनि का प्रकृत सेवक और भक्त बना दिया था। परन्तु इसके साथ यह भी मानना पड़ेगा कि इससे पूर्व विरजानन्द पाणिनि के विषय में कुछ भी नहीं जानते थे। और कौमुदी आदि व्याकरण की तुलना में पाणिनि के श्रेष्ठत्व के विषय में कुछ भी नहीं समझते थे*। और भारतवर्ष में पाणिनि-प्रतिष्ठा और प्रचार के महत्व की बात को कभी हृदय में स्थान नहीं देते थे। बहुत दिन पहले से विरजानन्द की दृष्टि पाणिनि की ओर आकृष्ट हो गई थी। इस सकंल्प ने कि सारे आर्यावर्त्त में पाणिनि का प्रचार हो बहुत दिनों से उनके चित्त पर अधिकार कर लिया था। इसलिए अब तक वह केवल सुयोग को ढूंढ रहे थे।

इस विषय में श्रद्धाभाजन बन्धु स्वर्गीय मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या[4] ने ग्रन्थकार से जो कुछ कहा था वह सब प्रकार ही समीचीन जान पड़ता है। और उस का उल्लेख करना हम इस जगह उचित समझते हैं। पण्ड्या जी की कथा यह है :—

यही कहना चाहिए कि दण्डी विरजानन्द को पाणिनि का अनुरक्त बनाने में पूर्णाश्रम की ही शिक्षा और प्रेरणा प्रथम वा प्रधान (कारण) थी। वह केवल अनुरक्त ही बना कर शान्त नहीं हुई, प्रत्युत अष्टाध्यायी के प्रचार और अष्टाध्यायी

---

*दण्डी जी के विद्यार्थियों में मथुरावासी वनमाली चौबे आज भी जीवित हैं। उन्होने इस विषय में ग्रन्थकार को जो एक हिन्दी पत्र में लिखा है, उससे ज्ञात होता है कि मथुरा में पाठ-शाला खोलने के समय विरजानन्द सामान्यभाव से अष्टाध्यायी पढ़ाया करते थे और कहा करते थे कि अष्टाध्यायी ही व्याकरण का असल ग्रन्थ है, परन्तु अब यह ग्रन्थ लुप्तप्राय: है। इसलिए जिससे कि उसमें लोगों की प्रवृत्ति हो ऐसा यत्न करना उचित है और जब तक उसका पुनरुद्धार न होगा, तब तक कौमुदी आदि के पठन-पाठन को प्रचलित रखना ही होगा।

के समान अन्य आर्षग्रन्थों के विस्तार में भी उस ने उन्हें कृत संकल्प बना दिया था। दण्डी जी इतने दिन उसी संकल्पित विषय को मन में लिए हुए विचार और चिन्ता करते थे। और उस को कार्य में परिणत करने के सुयोग की भी प्रतीक्षा करते आते थे। पीछे कौमुदी के खण्डन में सहसा प्रवृत्त होने से लोकविवाद उपस्थित होगा, इसी आशंका से सुयोग की प्रतीक्षा करना उनके समान परिणामदर्शी व्यक्ति के लिए सर्वांश में ही स्वाभाविक था। परन्तु क्या वे केवल कालगत सुयोग को ही ढूंढते थे। हमारा विश्वास है कि वे स्थानगत सुयोग को भी ढूंढते थे। सोरों, अलवर, भरतपुर उनकी उद्देश्यसिद्धि के अनुकूल नहीं पड़े, इसीलिए वे मथुरा आए और मथुरा में ही उन्होंने पाठशाला खोली, परन्तु पाठशाला खोलने में भी उन्होंने अपने संकल्प को कुछ भी प्रकट नहीं किया। काल की प्रतीक्षा करते हुए पूर्व के समान कौमुदी आदि को ही पढ़ाते रहे। चौबे प्रधान मथुरा में चौबे गुरु नन्दन प्रभृति को अपना शिष्यदलभुक्त बनाया। इस प्रकार जब अपनी भित्ति दृढ़तर हो गई, अपनी प्रभाव प्रतिपत्ति चारों ओर विस्तृत हो गई तभी वे अपने अभिप्रायसिद्धि के लक्ष्य में अग्रसर हुए। अजाद्युक्तिः के शास्त्रार्थ को उपयुक्त उपलक्ष समझकर और उसीका अवलम्बन करके वे पाणिनि के प्रचार में बद्ध परिकर हो गये।

अब मथुरा की पाठशाला में युगान्तर हुआ और शेखर, कौमुदी आदि का अध्ययन अध्यापन भी उठ गया परन्तु उससे पाठशाला किसी प्रकार क्षतिग्रस्त वा प्रतिपत्ति हीन नहीं हुई। ऐसे बड़े परिवर्तन के तूफान को सहन करके जैसे पाठशाला अक्षुण्ण रही, वैसे ही इतने बड़े तूफान के प्रवर्त्तक होने पर भी विरजानन्द अटल रहे। इस से विद्यार्थिगण का उत्साह वा आग्रह भी कुछ कम न हुआ। वे कौमुदी युग के समान पाणिनियुग† में भी अचल उत्साह आग्रह और के साथ आकर पाठशाला में पढ़ते रहे।

जिस बात को विरजानन्द अब तक छिप कर कहते थे अब उसे प्रकट में कहने लगे। वे मुक्तहृदय और मुक्तकण्ठ से हृदय की बात खुल कर कहने लगे। जिस बात को वे मथुरा की पाठशाला की कोठरी में इतने दिन तक रहते हुए नहीं कह सके थे, जिस बात के कहने का वे अलवर के राजप्रासाद में बैठ कर भी साहस नहीं कर सके थे और सोरों के गंगाघाट पर रहते हुए भी इतने दिन तक जिस बात के करने में समर्थ नहीं हुए थे, अब उसका सुयोग पाकर विरजानन्द उसके प्रचार करने

---

*पण्ड्या मोहनलाल ने ग्रन्थकार से यह भी कहा था कि कनखल के पूर्णाश्रम स्वामी के विरजानन्द के हृदय में अष्टाध्यायी के प्रति श्रद्धा उद्दीपन और उसके प्रचार में उनके दृढ़ीकरण की कथा हमने और किसी से नहीं सुनी, परन्तु विरजानन्द के विश्रुत नामा शिष्य स्वामी दयानन्द महाराज से सुनी थी, जब वे उदयपुर में थे।

†दण्डी जी की पाठशाला के कौमुदीयुग के छात्र—रङ्गदत्त, गङ्गादत्त, चिरञ्जीलाल और अङ्गदराम प्रभृति—पाणिनि युग के छात्र गोपाल ब्रह्मचारी, युगलकिशोर, सोहनलाल, नन्दन जी, पांडे श्यामलाल, गरुड़ध्वज, दयानन्द सरस्वती, दीनबन्धु, चौबे वनमाली और उदय प्रकाश आदि थे।

में उद्यत हो गये। सुयोग है ही ऐसी वस्तु। सुयोग के अभाव में सौ यत्न, सौ पुरुषकार, अगाध विद्या बुद्धि, प्रबल सदिच्छा कुछ भी विकसित होने या खुलने नहीं पाती* ।

* इस विषय में पूर्वोक्त लेखराम एक अद्भुत और सर्वथा अयुक्तियुक्त घटना का उल्लेख कर गय हैं। वे कहते हैं—"मथुरा निवास के समय में एक पड़ोसी दक्षिणी पण्डित का पाठ सुनते सुनते विरजानन्द अष्टाध्यायी की ओर आकर्षित हुए थे। वह दक्षिणी पण्डित प्रतिदिन प्रातःकाल अपने घर में बैठ कर अष्टाध्यायी का पाठ किया करता था और दण्डी जी अपने घर में बैठे हुए एकाग्रचित्त होकर उसके पाठ को सुना करते थे। क्रमशः उस सुने हुए पाठ पर विचार करते-करते मन में हर्ष लाभ करने लगे, तब उन्हें अष्टाध्यायी को ही निभ्रान्ति व्याकरण विश्वास करने पर बाध्य होना पड़ा। (लेखराम का उर्दू में लिखा हुआ और हिन्दी में अनुवाद किया हुआ विरजानन्द का जीवन-चरित्र पृष्ठ १७) यह सब घटना स्वकपोलकल्पित होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अब तक विरजानन्द के विद्यार्थियों के साथ ग्रन्थकार की जो बातचीत हुई है, उनमें से किसी ने भी ऐसा नहीं कहा है कि विरजानन्द इस उपाय से अष्टाध्यायी से अभिज्ञ वा उसमें आस्थावान् हुए थे। विशेषतः जब हम बनमाली चौबे के पत्र का उल्लेख करके और मोहन लाल विष्णुलाल पण्ड्या की बातचीत को ग्रन्थस्थ करके पहिले से ही अष्टाध्यायी की ओर आकृष्टचित्त वा आस्थावान् थे तो फिर यह बात किस प्रकार सम्भव हो सकती है कि उन्होंने मथुरा में अवस्थिति के समय में एक पड़ोसी ब्राह्मण के पाठ को सुन-सुन कर अष्टाध्यायी पर अधिकार प्राप्त किया था ?

(९) अनार्ष ग्रन्थखंडन और आर्षग्रन्थ मंडन

विरजानन्द यही प्रचार करते रहे कि कौमुदी आदि भ्रम और प्रमाद पूर्ण हैं। विशेष प्रकार से वे यह कहते थे कि उल्लिखित ग्रन्थ अनार्ष होने के कारण से ही भ्रम और प्रमादपूर्ण हैं। और वे इस बात को सिद्ध करने पर उद्यत हुए कि पाणिनीय सूत्रमाला आर्ष होने से भ्रम और प्रमाद रहित है और सत्य है।

आर्षग्रन्थ किसे कहते हैं? और अनार्ष ग्रंथ किसे कहते हैं? जो ऋषिप्रणीत है वही आर्ष है, और जो ऋषिप्रणीत नहीं, मनुष्यप्रणील है वही अनार्ष है।

अष्टाध्यायी और महाभाष्य के उज्ज्वलतर आलोक से और अपनी अनन्यसाधारण मेधा और विचारशक्ति के प्रभाव से दण्डो विरजानन्द में इस प्रकार की अभिज्ञता उत्पन्न हो गई थी कि यदि उनके पास कोई संस्कृत ग्रन्थ पढ़ा जाता था तो उसके पठन मात्र से यहाँ तक कि उसके दो चार श्लोकों को सुनने मात्र से वे तत्क्षण ही कह देते थे कि वे ग्रंथ आर्ष हैं वा अनार्ष। इस अभिज्ञतारूपी प्रदीप्त बत्ती को हाथ में लेकर विरजानन्द हिन्दुओं के विशाल शास्त्रभण्डार में प्रविष्ट हुए। और इसी परीक्षा द्वारा व यह परखने लगे कि कौन सा शास्त्र कांच है और कौन-सा काञ्चन है और कांच से काञ्चन को पृथक् करने लगे। इस से पहले शास्त्र-सुधार सम्बन्धी इस प्रकार की चेष्टा भारत में कभी अनुष्ठित नहीं हुई थी। यह बात कि सभी शास्त्र शास्त्र नहीं हैं और सभी शास्त्र प्रामाणिक या सत्य नहीं हैं चाहे कभी अंशतः प्रचरित हुई हो, परन्तु इस प्रकार स्पष्टता और पूर्णता के साथ इस देश में कभी प्रचरित नहीं हुई थी। ऋषिप्रणीत ग्रंथों से मनुष्यप्रणीत ग्रंथों का इस प्रकार सुचारु रूप से पार्थक्य प्रदर्शन और मनुष्यप्रणीत ग्रन्थों की अपकारिता सिद्ध करना और उनकी आलोचना और पठन-पाठन के सर्वतोभावेन परित्याग करने के लिए तुमुल समरायोजन और दूसरी और ऋषिप्रणीत ग्रन्थों के श्रेष्ठत्व और कल्याणकारित्व को स्पष्ट रूप से प्रमाणित करके उनके रक्षण और सर्वत्र प्रचार करने के लिए आर्य जाति को और विशेष कर क्षत्रिय भूपतियों को बार-बार साग्रह सम्बोधन रूप अतीव महान् और शुभदायक कार्य को क्या शंकर, क्या रामानुज, क्या भारत के किसी अन्य आचार्य ने कभी संसाधित नहीं किया। इसलिए हम यह बात असंकुचित चित्त से स्वीकार करेंगे कि इस सम्बन्ध में हिन्दुओं के शास्त्रों के संशोधन वा शास्त्रसंस्करण रूपी महत्तर कार्य में विरजानन्द ही एक मात्र और यथार्थ पथप्रदर्शक हुए हैं।

पाठक! अब आप कहते होंगे कि यह क्या बात है कि शास्त्र आर्ष भी होता है और अनार्ष भी, शास्त्र तो शास्त्र ही होता है, सभी शास्त्र पूज्य हैं। संस्कृत भाषा में अनुष्टुबादि छन्दों में जो कुछ लिखा हुआ है, वही शिरोधार्य्य है। परन्तु क्या यह बात ठोक है?

यह निश्चय ही है कि जैसे हिन्दुओं के शास्त्रग्रन्थों का शेष नहीं है वैसे ही शास्त्रकर्त्ताओं का भी अन्त नहीं है। ऋग्वेद से आरम्भ करके रावीतन्त्र तक कितने शास्त्र हैं। क्या, वामदेव ऋषिगण से लेकर नवद्वीप के आगमवागीश भट्टाचार्य्यों तक कितने शास्त्रकर्त्ता हैं। बोधायन से आरम्भ करके बंगाल के कुल्लूक तक कितने टीकाकार और भाष्यकार हैं। इसको छोड़ कर मुसलमानों के अत्याचार और प्रायः सहस्र वर्ष व्यापी बौद्धाधिकार ने हिन्दुओं के कितने शास्त्रों को विनष्ट और विलुप्त कर दिया है। सुतराम्, क्या हिन्दुओं के शास्त्रकारों की कोई संख्या नियत कर सकता है? फलतः क्या इन असंख्य शास्त्र ग्रन्थों की शास्त्रों में गणना हो सकती है? और हो भी सकती है, क्योंकि यद्यपि शास्त्रसमूह विभिन्न और बहुसंख्यक हैं, परन्तु मूलतः एक ही है। और जब मूलतः एक है, तब वे यदि संख्या में लाखों भी हो तो भी प्रकृतपक्ष में शास्त्र एक ही है, एक से अधिक नहीं। क्या पुराण, क्या तन्त्र, क्या संहिता, क्या गीता सब ही की वैदिक आधार से उत्पत्ति और सृष्टि हुई है। इसी कारण से इसमें संशय नहीं कि सिद्धान्त में सब हिन्दू क्या वैदिक, क्या पौराणिक और क्या तान्त्रिक एक वा अभिन्न हैं। फलतः सिद्धान्तसादृश्य ही हिन्दुओं के शास्त्रसादृश्य का मूल है। हिन्दुओं का शास्त्रगत एकत्व सिद्धान्तगत एकत्व के ऊपर ही स्थिर है। सुतराम्, क्या वेद, क्या वेदान्त, क्या गीता, क्या अनुगीता, क्या पुराण, क्या उपपुराण जो कुछ भी शास्त्र के नाम से प्रचलित और प्रचारित है, उसमें से हर एक शास्त्र कह कर ही मान्य और गण्य होगा।

इस बात की कुछ आलोचना करनी आवश्यक है। क्या वास्तव में हिन्दुओं के जितने शास्त्र हैं, वे सभी वेदमूलक हैं? क्या वेद को एक मात्र आधार मानकर और उसका अवलम्बन करके ही एक सहस्र शास्त्र रचे गये हैं? क्या हिन्दुओं के अनेकविध शास्त्रसिद्धान्त विषय वास्तव में एक वा अभिन्न हैं?

यदि सभी ग्रन्थ वेदमूलक हैं तो तन्त्र में ऐसी कथा क्यों दिखाई देती है?

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव।
या पुनः शाम्भवीविद्या गुप्तकुलवधूरिव॥

(ज्ञानसंकलिनीतन्त्र श्लोक ७)

इसका तात्पर्य यह है कि वेद पुराणादि शास्त्रसमूह सामान्य वेश्या के तुल्य हैं और शम्भुकथित जो तन्त्र है, वह गुप्तकुलवधू के सदृश है। क्या इस से यह सिद्ध नहीं होता कि तन्त्र वेदमूलक नहीं हैं, प्रत्युत स्वतन्त्र शास्त्र हैं।

यदि सब शास्त्र वेदमूलक हैं तो इस प्रकार की उक्ति क्यों देखने में आती है?

इतिहासं पुराणं पंचमं वेदानां वेदः॥

(छान्दोग्योपनिषत् १ प्र० १ खं०।)

अर्थात् इतिहास पुराण को पाँचवा वेद कहा गया है। सुतराम् स्वीकार करना होगा कि इतिहास और पुराण वेदमूलक नहीं हैं, बल्कि वे स्वतन्त्र वेद हैं।

यदि यह कहा जाये कि उल्लिखित पुराण शब्द प्राचीन पुराणों का बोधक है जो अब विलुप्तप्राय हो गये हैं, इसलिए वे तो वेदमूलक हो नहीं सकते, किन्तु आधुनिक अष्टादश पुराण सब ही वेदमूलक हैं। परन्तु यह भी किस तरह माना जा सकता है क्योंकि अष्टादश पुराणों में तीन प्रकार का श्रेणी भेद है और उनमें से एक श्रेणी में दूसरी श्रेणी की निकृष्टता प्रदर्शित वा निन्दाघोषणा की गई है। यथा:—

मात्स्यं कौर्मं लैङ्गं शैवं स्कान्दं तथैव च।
आग्नेयञ्च षडैतानि तामसानि निबोधत ॥
वैष्णवं नारदीयञ्च तथा भागवतं शुभम्।
गारुडञ्च तथा पद्मं वाराहं शुभदर्शनम् ॥
सात्विकानि पुराणानि विज्ञेयानि शुभानि वै।
ब्रह्माण्डं ब्रह्मवैवर्त्तं मार्कण्डेयं सवामनम् ॥
भविष्यत् वामनं ब्राह्मं राजसानि निबोधत ।

इनका तात्पर्य यह है कि मत्स्य, कूर्म, लिङ्ग, शिव, स्कन्द और अग्नि ये छः पुराण तामसिक हैं और विष्णु, नारद, भागवत, गरुड़, पद्म और वाराह ये छः पुराण सात्विक हैं और ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त्त, मार्कण्डेय, भविष्यत्, वामन और ब्राह्म ये छः पुराण राजसिक हैं।

जिनका पुराणों में कुछ प्राधान्य और कुछ माहात्म्य विशेष रूप से विघोषित रहा है, उनको सात्विक वा प्रथम सन्निविष्ट किया गया है और तामसिक पुराण सर्वापेक्षा निकृष्ट श्रेणी में परिगणित और प्रसिद्ध किये गये हैं। यहां तक कि इन पुराणों को नरक प्राप्ति का हेतु निर्धारित करने में भी लज्जा नहीं की गई। साम्प्रदायिक विद्वेष का प्रभाव ऐसा ही दुर्लंघ्य होता है।

यदि आधुनिक पुराणों की रचना वेद के ही आधार पर हुई है तो फिर उनके भीतर आपस में यह श्रेणी भेद क्यों हुआ? और एक श्रेणी दूसरी श्रेणी के निन्दा-वाद में क्यों प्रवृत्त हुई? अस्तु, इससे सिद्ध होता है कि हिन्दुओं के सब शास्त्र वेदमूलक नहीं हैं।

अब हम उनकी बात पर कुछ विचार करेंगे, जो यह कहते हैं कि हर एक शास्त्रग्रन्थ वेद के आधार पर ही लिखित और प्रचरित है। श्रीमद्भागवत नामी शास्त्र वैष्णव सम्प्रदाय में विशेष समादृत है। उल्लिखित युक्ति के अनुसार मानना होगा कि श्रीमद्भागवत वेद के आधार पर लिखी गई। यदि ऐसा है तो पाठक! हम यह जिज्ञासा कर सकते हैं कि भागवदुक्त निम्नलिखित श्लोकों का तात्पर्य वेद के कौन से स्थल में है?

वत्सान् मुञ्चन् क्वचिदसमये क्रोशसञ्जातहासः
स्तेयं स्वाद्वत्त्यथ दधिपयः कल्पितैः स्तेययोगैः।

मर्कान् भोक्ष्यन् विभजति स चेन्नात्ति भाण्डं भिनत्ति
द्रव्यालाभे स गृहकुपितो यात्युपक्रोश्य तोकान् ॥

[भागवत स्कन्ध १० अध्याय ८ श्लोक २९]

कृष्ण असमय (अदोहकाल में) बछड़ों को छोड़ देते हैं, यदि कोई आक्रोश (क्रोध) करके कुछ कहता है तो हंस देते हैं। चोरी के नाना उपायों की कल्पना करके तद्द्वारा सुस्वादु दधि-दूध चुरा कर खा जाते हैं। खाते-खाते बन्दरों को भी भाग दे देते हैं, बन्दरों में से जब कोई तृप्त हो जाने के कारण नहीं खाता तो आप भी नहीं खाते, बर्तन फोड़ देते हैं. कभी द्रव्य के मिलने पर घर वालों पर क्रोध करके पलंग पर सोये हुए बालकों को रुला कर चले जाते हैं।

(पण्डित रामनारायण विद्यारत्न कृत अनुवाद)

क्या कोई यह कह सकता है कि निम्नलिखित श्लोक वेद के अमुक मन्त्र का अवलम्बन करके लिखा गया है ?

कस्याश्चिन्नाट्यविक्षिप्त-कुण्डलत्विषमण्डितम् ।
गण्डं गण्डे सन्दधत्याः प्रादात्ताम्बूलचर्वितम् ॥
नृत्यन्ती गायती काचित्कूजन्नूपुरमेखला ।
पार्श्वस्थाच्युतहस्ताब्जं श्रान्ताधात् स्तनयोः शिवम् ॥

[भागवत १० स्कन्ध ३३ अ० १३-१४ श्लोक]

किसी गोपी ने नृत्य के कारण चंचल कुण्डलद्वय की किरण से विद्योतित प्रियतम के गण्ड को अपने तथाविध गण्ड पर धारण किया। श्रीकृष्ण ने उसे चर्वित ताम्बूल प्रदान किया। किसी गोपी ने नृत्य-गीत करते-करते श्री कृष्ण के पार्श्वगता होकर उनके मंगलस्वरूप कर-पद्म को अपने स्तनद्वय पर स्थापन किया। अनवरत नृत्य गीत करने से उसके नूपुर और मेखला बज रहे थे।

(पण्डित रामनारायण विद्यारत्न कृत अनुवाद)

कहिये निम्नलिखित तान्त्रिक सिद्धान्त किस वेद के किस मन्त्र के अर्थों का अवलम्बन करके लिपिबद्ध हुआ है ?

यावन्न चालयेद् दृष्टिर्यावन्न चालयेन्मनः ।
तावत्पानं प्रकुर्वीत पञ्चपानमतः परम् ॥

[महानिर्वाण तन्त्र ६ उल्लास १९६ श्लोक]

इसका यह तात्पर्य है कि जब तक तुम्हारी दृष्टि विघूर्णित न हो जाए, जब तक तुम्हारा मन विचलित न हो जाए तब तक तुम मदिरा पान करो।

इन सब पौराणिक और तान्त्रिक उक्तियों द्वारा यही प्रमाणित होता है कि वे वेद के किसी अंश के आधार पर लिखित वा प्रणीत नहीं हुए हैं। यह बात नहीं है कि केवल भागवत और महानिर्वाण ही वेद का अवलम्बन करके नहीं लिखे

गये बल्कि भागवत और महानिर्वाण के समान बहुत से शास्त्रग्रन्थ वेद की भित्ति के बिना और वैदिक आधार के बिना ही प्रतिष्ठित हुए हैं, यहां तक कि स्थल विशेष में तो वैदिक सिद्धान्त के विरोधी और प्रतिकूल होते हुए भी प्रचरित हुए हैं। अतः पर वैदिक सिद्धान्तसाम्य के विषय में भी यह जानना चाहिए। जिस ईश्वर ने वेद का प्रचार किया वह

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
[यजु: ४ अ० ८ मन्त्र]

अर्थात् सर्वव्यापी, अकाय, और शिरा और वर्णरहित इत्यादि।—अकायम, कायाहीन अर्थात् ईश्वर का कोई देह नहीं है। सुतराम् देही होना वा किसी प्रकार का देह धारण करना उसके लिए सर्वथा असम्भव है। अथ च भागवत ग्रन्थ कहता है—

कृतं त्रेता द्वापरं च कलिरित्येषु केशवः ।
नानावर्णाभिधाकारो नानैव विधिनेज्यते ॥ २०
कृते शुक्लश्चतुर्बाहुर्जटिलोवल्कलाम्बरः ।
कृष्णाजिनोपवीताक्षान्बिभ्रद्दण्डकमण्डलूम् ॥ २१
त्रेतायां रक्तवर्णोऽसौ चतुर्बाहुस्त्रिमेखलः ।
हिरण्यकेशस्त्रय्यात्मास्रुक्स्रुवाद्युपलक्षणः ॥ २४
द्वापर भगवान् पीतवासा निजायुधः ।
श्रीवत्सादिभिरङ्कैश्च लक्षणैरुपलक्षितः ॥ २७
नानातन्त्रविधानेन कलावपि तथा शृणु । ३१
कृष्णवर्णं त्विषाऽकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम् ॥
यज्ञैः संकीर्त्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः । ३२
[भागवत—११ स्कन्ध, ५ अध्याय]

निमिराज के प्रति ऋषि करभाजन की उक्ति—

हे राजन्! सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि इन चार युगों में नाना वर्ण, नाना नाम और नाना आकार में से अवतीर्ण होकर नाना विधि वे उपासित होते हैं। सत्युग में शुक्लवर्ण, चतुर्बाहु जटिल वल्कल-वसन, दण्डकमण्डलु और कृष्णसार मृग के चर्म, यज्ञसूत्र- मालाधारी ब्रह्मचारी के वेश में अवतीर्ण होते हैं। त्रेतायुग में रक्तवर्ण, चतुर्बाहु, मेखलात्रयधारी, पिङ्गलकेश, वेदमय शरीर, यज्ञमूर्ति रूप में अवतीर्ण होते हैं। द्वापर युग में भगवान् आतसी कुसुम वा श्याम वर्ण, पीतवास चक्रादि आयुधधारी श्रीवत्स चिह्न-चिह्नित एवं कौस्तुभभूषित होकर अवतीर्ण होते हैं। कलि युग में अवतीर्ण होकर जिस प्रकार नाना तन्त्र विधान से पूजित होते हैं, उसे सुनो। कृष्णवर्ण और इन्द्रनीलमणिज्योतिर्विशिष्ट एवं साङ्गोपाङ्ग

अस्त्र और पार्षद सहित अवतीर्ण होते हैं। इस समय विवेकी मनुष्य सङ्कीर्त्तन-रूप यज्ञ द्वारा उनकी अर्चना करते हैं।

(पण्डित रामनारायण विद्यारत्न का किया हुआ अनुवाद)

हम देखते हैं कि वेद का ईश्वर तो 'अकायमव्रण' है और भागवत का ईश्वर कभी चतुर्बाहुधारी, कभी वल्कलपरिधायी, कभी शुक्लवर्ण, कभी रक्तवर्ण, कभी पिङ्गलकेश विशिष्ट, कभी पीतवासा शोभित है तो फिर ऐसा क्यों है कि वेद का ईश्वर तो एक प्रकार का हो और भागवत का ईश्वर अन्य प्रकार का ? तनिक और आगे चलकर देखिये कि ब्रह्मादि देवत्रय के बीच में कौन छोटा है और कौन बड़ा है ? इसी बात को लेकर देखिए कि शास्त्र पुराणों में उस पर कितना विरोध है।

अयं मे दक्षिणे पार्श्वे ब्रह्मा लोकपितामहः ।
वामे पार्श्वे च मे विष्णुर्विश्वात्मा हृदयोद्भवः ॥
(लिङ्गपुराण १७-३)

महादेव कहते हैं कि लोकपितामह ब्रह्मा मेरे दक्षिण पार्श्व से और विश्व के आत्मस्वरूप हृदयोद्भव विष्णु हमारे बांये पार्श्व से उत्पन्न हुए हैं।

लिङ्ग पुराण कहता है कि महादेव बड़े हैं। अतः पर—

भृकुटी कुटिलात्तस्य ललाटात्क्रोधदीपितात् ।
समुत्पन्नस्तदा रुद्रो मध्याह्नार्कसमप्रभः ॥
(विष्णु पुराण १-७-१०)

अर्थात्—उसके (ब्रह्मा के) क्रोधदीपित भृकुटी कुटिल ललाट से मध्याह्न सूर्य सदृश प्रभावशाली रुद्र उद्भूत हुए।

विष्णुपुराण के मत में ब्रह्मा ही बड़े हैं। इसके पश्चात्—

तथाऽन्य देवता भक्तिर्ब्राह्मणस्य विगर्हिता ।
विदुर्मतिविप्राणां चाण्डालत्वं च प्रयच्छति ॥
तस्य सर्वाणि नश्यन्ति पितॄन्नरकं नयेत् ।
(पद्मपुराण उत्तर खण्ड १०३)

अर्थ—विष्णु से भिन्न अन्य देवता की भक्ति करना ब्राह्मण के लिए विगर्हित है। ऐसा करने से दुर्बुद्धि ब्राह्मण चाण्डालत्व को प्राप्त होता है, उसका सर्वनाश हो जाता है और उसके पितर नरक में जाते हैं।

इससे सिद्ध होता है कि विष्णु ही सबसे बड़ा है। और भी देखिये :—

विष्णुः शरीरग्रहणमहमीशान एव च ।
कारितास्ते यतो मातस्त्वां कः स्तोतुं शक्तिमान् भवेत् ॥
(मार्कण्डेयपुराण ८१ अध्याय मधुकैटभवध प्रकरण)

इसका तात्पर्य यह है कि (ब्रह्मा देवी का स्तव करता है) मैं (ब्रह्मा), विष्णु और महादेव हम तीनों तेरे ही प्रभाव से शरीर धारण करके अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त हैं, अतएव क्या कोई व्यक्ति तुम्हारा स्तवं करने में समर्थ हो सकता है ?

मार्कण्डेयपुराण प्रतिपादित करता है कि देवी भगवती ही सब में श्रेष्ठ है। और भी देखिये—

सृष्टिस्थित्यन्तकरणाद् ब्रह्मा विष्णुशिवात्मिकाम् ।
स संज्ञां याति भगवान् एक एव जनार्दनः ।

(विष्णु पुराण २।१।६३ श्लोक)

इसका अर्थ है कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव यह ईश्वर की सृजिनी, पालिनी और संहारिणी शक्ति के भिन्न-भिन्न नाम हैं। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं।

अब हम जिज्ञासा कर सकते हैं कि महादेव को बड़ा मानें या देवी भगवती की ही सबसे अधिक श्रेष्ठता स्वीकार करें। या इस मत में विश्वास करें कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव यह कुछ भी नहीं हैं और वास्तव में इनका अस्तित्व ही नहीं है? जो लोग इस बात के विश्वासी और श्रद्धावान् हैं कि हिन्दुओं के जितने शास्त्र हैं, वे सब एक वाक्य हो कर एक ही सिद्धान्त का प्रचार करते हैं और, प्रत्येक शास्त्रग्रन्थ एक ही सिद्धान्त की घोषणा करके अपना सिर ऊँचा करता है, वह उल्लिखित परस्पर विरुद्ध और विभिन्न शास्त्रीय सिद्धान्तों को पढ़ कर देखें और फिर बताएँ कि वे क्या कहना चाहते हैं।

केवल इतना ही नहीं है। भिन्न-भिन्न मतों के तो प्रचारक हैं ही, परन्तु एक ही शास्त्र में, एक ही ग्रन्थ में, एक ही विषय पर विभिन्न सिद्धान्त प्रकट किये गये हैं जैसे कृष्णावतार के विषय में—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे ।।

अर्थात्—हे ऋषिगण ! हमने जो इससे पहिले सब अवतारों की कथा कही है, उनमें से कोई-कोई तो परमेश्वर के अंश हैं और कोई-कोई उनकी विभूति हैं, परन्तु कृष्णावतार सर्वशक्तित्वहेतु साक्षात् भगवान् नारायण हैं। जब जब इस जगत् में दैत्यगण ने उपद्रव किया उस उस युग में इन सब मूर्तियों में आविर्भूत हो कर भगवान् ने दैत्यगणों का विनाश करके सब लोगों को निरुपद्रव और सुखी किया।

(पण्डित रामनारायण विद्यारत्न कृत अनुवाद)

दूसरे स्थान में रामलीला की कथा को सुनकर राजा परीक्षित विस्मयाविष्ट-चित्त होकर जिज्ञासा करते हैं :—

संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च ।
अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वरः ।।
स कथं धर्मसेतूनां वक्ता कर्त्ताभिरक्षिता ।

प्रतीपमाचरद्ब्रह्मन् परदाराभिमर्षणम् ॥

(भागवत १० स्कन्ध ३३ अ० २७-२८ श्लोक)

'हे ब्रह्मन् ! आपने कहा था कि भगवान् जगदीश्वर धर्म की स्थापना करने और अधर्म को प्रशमन करने के निमित्त अंशावतार लेते हैं। उन्होंने स्वयं धर्म मर्यादा का वक्ता, कर्त्ता और रक्षिता होकर किस प्रकार उसके विपरीत (अधर्म का) आचरण किया ? वह कलञ्ज भक्षणवत् अधर्म नहीं बल्कि परस्त्रीसंस्पर्श रूपी महा साहस।

(पण्डित रामनारायण विद्यारत्न का किया हुआ अनुवाद)

इस श्लोक से यह दिखाया गया है कि कृष्ण अंशावतार रूप से अवतीर्ण हुए थे। दूसरे स्थान पर देखिये :—

क्वापि सन्ध्यामुपासीनं पुरुषं ब्रह्म वाग्यतम् ।
ध्यायन्तमेकमात्मानं पुरुषं प्रकृतेः परम् ॥

(भागवत १० स्कन्ध ६९ अ० १८ श्लोक)[2]

नारद आ कर देखते हैं कि श्री कृष्ण कहीं वाग्यत[3] हो कर परब्रह्म का ध्यान कर रहे हैं, संध्या उपासना कर रहे हैं, एक स्थान में प्रकृति से भी परे अर्थात् श्रेष्ठ परम पुरुष परमात्मा का ध्यान कर रहे हैं।

(पण्डित रामनारायण विद्यारत्न कृत अनुवाद)

हम पूछते हैं कि एक सरलचित्त व्यक्ति भागवत ग्रन्थ को पढ़ कर किस परिणाम पर पहुँचेगा ? वह श्री कृष्ण को स्वयं परब्रह्म मानेगा या उन्हें परमेश्वर का एक उपासक समझेगा या उन्हें अंशावतारों में गिनेगा ? फलतः अब सुस्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि सहस्रविध शास्त्रग्रन्थों की सहस्रविध मीमांसा है। और सब शास्त्रों में परस्पर सिद्धान्तसादृश्य वा सिद्धान्त-अनुकूलता की कथा वृथा है। अस्तु, जो लोग यह कहते हैं कि हिन्दुओं के पुंज-पुंज शास्त्र वेदमूलक हैं, वेद के आधार पर लिखे गये हैं, उनकी एक ही मीमांसा है, एक ही सिद्धान्त के विस्तार के उद्देश्य से रचे गये हैं, जो लोग असंख्य कल्प ग्रन्थों का एकत्व और अभिन्नत्व सिद्ध करना चाहते हैं और उल्लिखित आर्षग्रन्थ और अनार्षग्रन्थ-जनित पार्थक्य की सत्यता को स्वीकार करने पर उद्यत नहीं हैं उनके विषय में यही कहना पर्याप्त नहीं है, कि उनका शास्त्र परिचय स्वल्प है, बल्कि यह भी कहना चाहिए कि उनकी शास्त्रानुगा बुद्धि नितान्त ही स्थूल और मलिन है।

अब हम अपने मूल विषय का अनुसरण करेंगे। मथुरा की पाठशाला के मकान में बैठ कर विरजानन्द जिस प्रकार अनार्ष ग्रन्थों के लक्षणों को निर्धारण कर के उनसे आर्षग्रन्थों का प्रभेद और पार्थक्य भी दिखाने में प्रवृत्त हो गये। अच्छा तो अनार्षग्रन्थों के क्या-क्या लक्षण हैं ?

प्रथमतः—अनार्ष वा मनुष्यप्रणीत ग्रन्थों का आरम्भ अथ शब्द से नहीं होता। जितने भी मनुष्यों के बनाये हुए शास्त्र हैं उनका आरम्भ किसी न किसी इन्हीं

प्रकार के वाक्यों से होता है जैसे 'सरवस्वत्यै नमः' 'दुर्गायै नमः' 'नारायणाय नमः' और जो ऋषिप्रणीत वा आर्षशास्त्र हैं उनका आरम्भ 'ओम्' (अथवा 'अथ') शब्द से अलंकृत होता है। यथा—पूर्वमीमांसा के आरम्भ में 'अथातो धर्म जिज्ञासा' पातञ्जल सूत्र के आरम्भ में 'अथ योगानुशासनम्' ब्रह्मसूत्र के आरम्भ में 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' व्याकरण महाभाष्य के आरम्भ में 'अथ शब्दानुशासनम्' लिखा हुआ है। अतएव जिस ग्रन्थ का 'ओम्' वा 'अथ' शब्द द्वारा मङ्गलाचरण नहीं किया गया, वह आर्ष ग्रन्थों में परिगणित नहीं हो सकता।

द्वितीयतः—अनार्षप्रणीत ग्रन्थों में जिस प्रकार साम्प्रदायिक विद्वेष और साम्प्रदायिक सङ्कीर्णता देखी जाती है वैसे ही दूसरी ओर सार्वभौमिक भाव का अभाव भी परिलक्षित होता है। शिवपुराण के मत में शिव ही श्रेष्ठ है, विष्णुप्रधान पुराणों के मत में विष्णु श्रेष्ठ है, शक्तिप्रधान पुराणों के मत में शक्ति अर्थात् देवी ही श्रेष्ठ है। वह केवल अपने-अपने देवता को श्रेष्ठस्थानारूढ़ करके ही निश्चिन्त नहीं होते, बल्कि अन्य देवता की वा अन्यावलम्बित शास्त्र को अत्यन्त अपकृष्ट करके घोषणा भी करने में पुराणादि अनार्ष ग्रन्थसमूह अणुमात्र भी सङ्कोच बोध नहीं करते। यह बात हम पहले भी दिखा चुके हैं। परन्तु वे क्या इतने से शान्त हो जाते हैं? उनके पारस्परिक विषम विद्वेष का भाव क्या इतने ही में पर्यवसित है? वैष्णव के लिए हरि का नाम जैसी श्रद्धा की वस्तु है तुलसी-पत्र वैसी ही प्रीति की सामग्री है। परन्तु शायद इसी कारण से ही शाक्त इन दोनों वस्तुओं को घृणा और निन्दा की दृष्टि से देखते हैं।*

आर्ष वा ऋषिप्रणीत पुस्तकें इसके विपरीत होती हैं। आर्षग्रन्थों में कहीं भी विद्वेष, घृणा वा संकीर्णता का अणुमात्र भी निदर्शन नहीं होता। वे आद्योपान्त सार्वभाविकता के निर्मल भाव से गठित होते हैं। उनका भाव सर्वत्र उदारता की पवित्र पारिजातमाला से अलङ्कृत होता है। इस विषय में हम एक दृष्टान्त देंगे। शाक्त ग्रन्थों के मत में देवी का मन्दिर ही उपासना का उपयुक्त स्थल है। वैष्णवों के शास्त्रानुसार विष्णु का मन्दिर वा उसके अभाव में तुलसी कुञ्ज ही अर्चना का उपयुक्त स्थान है। तन्त्रों के मत में नरकङ्कालपरिपूरित विभीषण श्मशानभूमि ही साधना का यथार्थ क्षेत्र है। परन्तु आर्षग्रन्थों के मत में वेदान्त-सूत्रों के मत में† "यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्" अर्थात् जिस स्थान में तुम्हारा चित्त एकाग्र हो उसी स्थान में तुम उपासना करो—कैसा विशुद्ध मत है? कैसा उत्तम सिद्धान्त है? ऋषि प्रणीत पुस्तक से भिन्न मनुष्य प्रणीत अनार्ष पुस्तक द्वारा क्या कहीं ऐसा उदार सिद्धान्त प्रकटित हो सकता है?

---

*कुलार्णव तन्त्र में कहा है, "हरेर्नाम न गृह्णीयात् न स्पृशेत्तुलसीदलम्" हरि का नाम न लेना और तुलसीपत्र को न छूना। (भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय २ भाग उपक्रमणि—का २३३ पृष्ठ)

†वेदान्त सूत्र ४ अध्याय ; पाद ११ सूत्र

तृतीयत:— जिन ग्रन्थों की टीका वा भाष्य किसी प्रसिद्ध वा सर्वजनस्वीकृत आचार्य का लिखा हुआ नहीं है, वह ग्रन्थ भी अनार्षश्रेणीभुक्त है। इस समय उपनिषद्ग्रन्थों की संख्या सौ से अधिक हो गई है। परन्तु उनमें से केवल कठ-केनादि दश ही प्रामाणिक गिनी जाती हैं। क्योंकि इन्हीं दश का भाष्य आचार्य केसरी शङ्कराचार्य लिख गये हैं। अस्तु! अनार्षग्रन्थों के निर्धारण करने को अन्यान्य सूक्ष्मतर लक्षणों के होते हुए भी, हम इन्हीं तीन लक्षणों को ही प्रधान लक्षण मानते हैं। पाठक! यदि इच्छा हो तो हिन्दुओं के प्राचीन शास्त्र-भण्डार में से एक-एक ग्रन्थ को लेकर इस लक्षणत्रय रूपी कसौटी पर घिस सकते हैं और यह परीक्षा कर सकते हैं कि उनमें से किसमें कितने खोटे सोने की मिलावट है।* दण्डी जी के अन्त:करण में यह विश्वास कि भारत का सब प्रकार से अनिष्ट मनुष्य प्रणीत ग्रन्थमाला के पठन-पाठन से साधित हुआ है और भारत का सब प्रकार का कल्याण ऋषिप्रणीत पुस्तकमाला के पठन-पाठन और प्रचार पर निर्भर है, इतना बद्धमूल हो गया था कि वह एक क्षण के लिए भी उसमें शिथिलता प्रकट नहीं करते थे। वह सदा ही तन्निष्ठ रहते थे। इसी धारणा में तद्गत रहते थे। जब कभी आर्ष और अनार्ष ग्रन्थों का प्रसंग उनके सम्मुख उपस्थित होता था तो विरजानन्द उत्साह और आवेग से उद्दीपित हो जाते थे और सिंह के समान गर्जन करके अनार्ष ग्रन्थों के खण्डन में प्रवृत्त हो जाते थे। वृद्धता का अवसाद भी उनके इस विश्वास को शीतल नहीं कर सकता था। जराजनित क्लान्ति भी उनको निरुत्साह करने में समर्थ नहीं थी। चारों ओर प्रतिकूलता फिरती रही परन्तु दण्डी जी एक दिन के लिए भी अपने को इस धारणा से मुक्त नहीं कर सके। वे अनार्ष ग्रन्थमाला के प्रतिवाद में इतने व्यस्त और उत्तेजित रहते थे कि अपनी पाठशाला के विद्यार्थी वर्ग के साथ तो जब-तब प्रतिवाद करते ही रहते थे, परन्तु जो जो लोग उनके दर्शन को आते थे उनमें भी यदि वे किसी का शास्त्रानुराग देखते थे तो उससे भी इस विषय पर वार्तालाप करने लग जाते थे। केवल इतना ही नहीं, जब

---

*इस पक्ष में यथेष्ट प्रमाण मिलते हैं कि बहुत से आधुनिक ग्रन्थ यहां तक कि २०।३०।७० वर्ष के भीतर लिखे हुए ग्रन्थ भी इस देश में ऋषिप्रणीत ग्रन्थ कहला कर परिगणित और प्रचलित हो रहे हैं। "वाराणसी कमेटी के दीवान दुर्गाचरण मित्र ने काशी निवासी रामचन्द्र छुलिया से देवी भागवत और गोकुल चन्द्र घोषाल ने किसी ब्राह्मण से महाभागवत बनवाए थे। (देखो गुएंडानिवासी राजा जनमेजय मित्र बहादुर का नयनांजन ग्रन्थ) ऐसे ही काशी खण्ड एक पुराण के अन्तर्गत प्रचलित है। वह ग्रन्थ वेदव्यास का बनाया हुआ नहीं है। बल्कि किसी आधुनिक ब्राह्मण की कल्पित कथा है। हरिभक्ति विलास के तीसरे विलास के ९वें श्लोक की टीका में लिखा है।" यद्यपि काशीखण्डमाधुनिके कल्पितं क व्यनिति पुराणतत्त्ववित्सु प्रसिद्धमित्यादि। और स्मार्त रघुनन्दन महाचार्य महाशय ने एकादशी तत्त्व में इस बात को कि विष्णुरहस्य और शिवरहस्य दोनों ग्रन्थ ऋषिप्रणीत नहीं हैं, दान-सागर के कर्त्ता अनिरुद्ध भट्ट के वचन से सिद्ध किया है। (सुवर्णवणिक् २ खण्ड पृष्ठ ७०।७१)

कभी वे सुनते थे कि मथुरा धाम में कोई प्रसिद्ध पण्डित आया है तो वे यह सुनते ही उसे अपनी पाठशाला में बुलाकर ले आते थे और बातचीत में उसे मनुष्य प्रणीत ग्रन्थों की अशेष विध अपकारिता की बात को समझाने का यत्न करते थे।

एक बार मथुरा में एक सुपण्डित संन्यासी आदित्यगिरि नामी प्रायः सौ से अधिक शिष्यों के साथ गोकर्ण मन्दिर के पास की एक धर्मशाला में आकर ठहरे। वे प्रतिदिन सन्ध्या समय धर्मशाला में भगवद्गीता की कथा कहा करते थे। मथुरा के बहुत से शिक्षित जन धर्मशाला में जा कर संन्यासी की कथा सुना करते थे। कथा सुनने से हो वा किसी अन्य कारण से हो लोगों का यह विश्वास हो गया था कि आदित्यगिरि एक उच्च श्रेणी के पण्डित हैं। अस्तु! विरजानन्द ने जब आदित्यगिरि का संवाद जान पाया तो उन्होंने एक दिन मोहनलाल और युगल किशोर नामी दो विद्यार्थियों को उनके पास भेजा और भेजते समय उनसे कह दिया कि तुम जाकर आदित्यगिरि को समझा आओ कि कौमुदी आदि व्याकरण अशुद्ध हैं। जब दोनों विद्यार्थी गुरुदेव के आदेश को शिरोधार्य करके धर्मशाला में जाकर पहुँचे, उस समय आदित्यगिरि कथा के कार्य में लग हुए थे। परन्तु थोड़ी ही देर पीछे कथा समाप्त हो गई तब मोहनलाल और युगलकिशोर ने आगे बढ़ कर आदित्यगिरि को दण्डी जी का आदेश सुनाया और कौमुदी को खोलकर कुछ संभ्रम के साथ कहने लगे 'देखिये कौमुदी इस-इस स्थल में अशुद्ध है।" दोनों विद्यार्थियों के मुख से इस प्रकार की वृद्धोचित बात को सुन कर आदित्यगिरि कुछ देर तक स्तब्ध रहे और जब उनको यह ज्ञात हुआ कि वे विद्यार्थी दण्डी विरजानन्द के आदेश से ही वहां आए हैं और ऐसी बातें कहते हैं तो उन्होंने और कुछ न कह कर विद्यार्थीद्वय से केवल इतना ही कहा कि "हम स्वयं ही दण्डी जी के पास जाकर इस विषय की मीमांसा करेंगे।" इसके अनुसार आदित्यगिरि ने एक दिन पाठशाला में आकर दण्डी जी के साथ शास्त्र विषय में बातचीत करनी आरम्भ की। विरजानन्द कौमुदी आदि के विपक्ष में प्रबलतर प्रमाण दिखाने लगे और कुछ देर पश्चात् आदित्यगिरि से स्वीकार करा लिया कि कौमुदी आदि व्याकरण अशुद्ध हैं।

गङ्गाराम शास्त्री नामी एक सरयूपारी ब्राह्मण तीर्थ परिभ्रमण करते हुए मथुरा में आए और मथुरावासी पण्डितवर्ग के साथ शास्त्रालाप में प्रवृत्त हुए और उसी उपलक्ष्य में एक दिन दण्डी जी की पाठशाला में आए। विरजानन्द उनके सामने इतनी योग्यता के साथ कौमुदी आदि अनार्षग्रन्थों का खण्डन करने लगे और उनकी खण्डनोक्ति शास्त्री जी के हृदय में इतनी शीघ्र बद्धमूल हो गई कि विदा होते समय गङ्गाराम यह कह कर गये कि आगे से हम पाणिनि ही का प्रचार करेंगे। दण्डी जी ने आदित्यगिरि और गङ्गाराम शास्त्री दोनों से उनकी स्वीकारोक्तियों को लिखा लिया था।

एक योरुपीय विद्वान् एक बार मथुरा में उस समय के वहाँ के कलक्टर साहब के बंगले पर आ कर ठहरे। संस्कृतज्ञ होने और हिन्दुओं के शास्त्र-साहित्य के साथ

अनुराग रखने के कारण उन्होंने मथुरा की पण्डितमण्डली को एक दिन बुलाया और उनके साथ वेदभाष्यकार सायणाचार्य के विषय में आलोचना की। दण्डी जी भी उस सभास्थल में बुलाये गये थे। उन्होंने वहां पहुँच कर योरुप से आये हुए विद्वान् पुरुष* से विशेषता के साथ अनुरोध किया कि ऐसा होना चाहिए जिससे अनार्षग्रन्थों का प्रचार उठ जाये और उसके साथ आर्षग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन वृद्धि को प्राप्त हो जाय। ऐसा कहा जाता है कि अपनी उत्सुकता के वेग से अधीर होकर दण्डी जी एक दिन हार्डिञ्ज साहब कलक्टर के पास गये और उनसे अनुरोधपूर्वक कहा कि 'आर्षग्रन्थों के प्रचार में सहायता करने के लिए आप गवर्नमेंट से अनुरोध कीजिए। हार्डिञ्ज साहब ने इस के उत्तर में कहा कि इस विषय में हस्तक्षेप करने का हमें अधिकार नहीं है।

निम्नलिखित घटना से यह बात और भी परिस्फुटित होगी कि विरजानन्द की ऋषिप्रणीत ग्रन्थमाला पर अटल श्रद्धा और अविचल भक्ति थी। हमने यह घटना विरजानन्द के अन्यतम शिष्य मथुरावासी पुरुषोत्तम चौबे के मुख से सुनी है। उन्होंने कहा था, एक बार एक पण्डित ने पाठशाला में आकर दण्डी जी से कहा "प्रतिपदा के दिन पढ़ाना आर्षग्रन्थों के नियम से विरुद्ध है क्योंकि रामायण में लिखा है, हनुमान् अशोक काननवासिनी अपहृता सीतादेवी के दूर से ही दर्शन करके उनकी उस समय की आकृति के विषय में वर्णन करते हैं कि वह प्रतिपदा के दिन पढ़ी हुई विद्या के समान शिथिल थी।" इतना सुनते ही दण्डी जी बोल

---

*यह योरुपीय विद्वान् कौन थे? इस विषय में अनेक अनुसंधान करने पर भी कुछ स्थिर नहीं हो सका। अस्तु! सम्भवतः इसी घटना का अवलम्बन करके पण्डित लेखराम विरजानन्द के विवरण में (लेखरामकृत विरजानन्द चरित् का हिन्दी अनुवाद पृष्ठ ३२) लिख गये हैं—"एक बार राजराजेश्वरी विक्टोरिया के ज्येष्ठ पुत्र प्रिंस आफ वेल्स मथुरा में आए और उन्होंने वहां की पंडितमण्डली को बुलाया इत्यादि। विक्टोरिया के ज्येष्ठ पुत्र प्रिंस आफ वेल्स—जिन्होंने पीछे से सप्तम एडवर्ड नाम से परिचित होकर ब्रिटिश साम्राज्य के सिंहासन को अलङ्कृत किया केवल एक ही बार भारत परिभ्रमण के लिए आए थे। वे इंगलैंड से चल कर सन् १८७५ के नवम्बर की १० तारीख को बम्बई नगर में पहुँचे थे और इस देश के प्रधान स्थानसमूह को देखकर अपने देश को लौट गये थे। उनके भारत-परिभ्रमण में कहीं भी इस प्रकार का निर्देश नहीं है कि वह मथुरा भी गये थे। परन्तु लेखराम उन्हें मथुरा भी ले आए और उनके साथ दण्डी जी का साक्षात्कार भी करा दिया। परन्तु दण्डी विरजानन्द प्रिन्स आफ वेल्स के भारत में पदार्पण करने के प्रायः सात वर्ष पहले देहत्याग कर गये थे। क्योंकि सन् १८६८ के सितम्बर वा अक्तूबर में (सं० १९२५ के आश्विन में) विरजानन्द की मृत्यु हुई थी। जिस मूल पुस्तक में विरजानन्द का विवरण प्रकाशित हुआ है, वह पुस्तक लेखराम की लिखी और पञ्जाब आर्यप्रतिनिधिसभा की ओर से प्रकाशित हुई है। प्रतिनिधिसभा पञ्जाब अनेक शिक्षित व्यक्तियों की समष्टि है। दुःख का विषय है कि इतनी बड़ी भूल पर प्रतिनिधि के किसी सभासद् की दृष्टि नहीं पड़ी और जो लेखराम आर्यसमाज में सर्वप्रधान ऐतिहासिक लेखक प्रसिद्ध हैं, उनकी भी दृष्टि इस ओर आकृष्ट नहीं हुई।

उठे —"ऐसा नहीं हो सकता, आर्षग्रन्थ में कभी ऐसी बात नहीं रह सकती।" यह कह कर उन्होंने मुझसे ही रामायण लाने के लिए कहा और जब मैं ले आया तो मुझसे ही रामायण के उस स्थल को पढ़ने के लिए आदेश किया। पाठ करने पर देखा गया कि उस स्थल पर लिखा था 'अनभ्यस्ता विद्या की न्याईं शिथिल।" उस समय दण्डी जी के हर्ष को कौन देख सकता था ? वे उत्साह के साथ बार-बार कहने लगे "क्या ऋषिप्रणीत पुस्तक में इस प्रकार की बात कभी हो सकती है ?"*

मथुरा की पाठशाला की स्थापना के सम्भवत: कुछ काल पीछे ही विरजानन्द ने पाणिनि के अर्धांश का भाष्य[4] भी लिखा था। इसके भिन्न शेखर व्याकरण के खण्डन पूर्वक एक और पुस्तक वाक्यमीमांसा[5] नामी भी सङ्कलित की थी। परन्तु मनुष्यप्रणीत ग्रन्थों की अपकारिता के विषय में वे जितना अधिक जानते गये और दूसरी ओर आर्षग्रंथों की कल्याणकारिता के सम्बंध में वे जितना अपने को नि:संदेह करते गये उतना ही उनके हृदय में यह विश्वास बद्धमूल होता गया कि संसार में मनुष्यप्रणीत ग्रन्थों के रखने का कोई प्रयोजन नहीं है और उनके न रखने से कोई अनिष्ट न होगा। एक दिन इस विश्वास के प्रबलतर होते ही विरजानन्द ने एक विद्यार्थी से बुलाकर और उसके हाथ में इन पुस्तकों को देकर कहा—"देखो बिना विलम्ब इन दोनों पुस्तकों को यमुना के प्रवाह में डालकर चले आओ।" विद्यार्थी उन दोनों पुस्तकों को लेकर बिना विलम्ब के यमुना की ओर चल दिया।† उन्होंने इस आशंका से कि पीछे उल्लिखित पुस्तकों से संसार का और भी अनर्थ साधित हो, पीछे मनुष्यप्रणीत ग्रन्थों की संख्या में इसी प्रकार उत्तरोत्तर वृद्धि होती चली जाए इन दोनों पुस्तकों का शीघ्र ही अस्तित्व विलुप्त करना आवश्यक समझा था और इसीलिए उन्होंने विद्यार्थी से उन्हें यमुना जल में फेंक आने के लिए कहा था। अपने कृतित्व, अपने पाण्डित्य, अपने भावी यश, अपनी भावी प्रतिष्ठा

---

*विरजानन्द प्रतिपदा के दिन भी पढ़ाया करते थे। उपस्थित विषय में हमने रामायण ग्रन्थ के जिस संस्करण को देखा है उसमें ऐसा पाठ दृष्ट होता है।

उपवासकृशां दीनां नि:श्वसन्तीं पुन: पुन:।
ददर्श शुक्लपक्षादौ चन्द्ररेखामिवामलाम्॥

रामायण सुन्दरकाण्ड १५ सर्ग १९ श्लोक

†गोपीनाथ नामक विद्यार्थी के हाथ में ही इन दोनों पुस्तकों के फेंकने का भार सौंपा गया था। गोपीनाथ ने उन्हें फेंका न था बल्कि अपने पास ही रख लिया था और गुरुदेव से जाकर कह दिया था कि मैं आपकी आज्ञा का पालन कर आया हूँ। पाणिनि भाष्य की पुस्तक बहुत दिनों तक गोपीनाथ के पास रही और वाक्यमीमांसा की पुस्तक को युगलकिशोर ने अपने पास रख लिया था[6] और यह बात युगलकिशोर ने स्वयं ही ग्रन्थकार से स्वीकार की थी।

इसके पश्चात् विरजानन्द ने स्वयं कोई रचना नहीं की। यदि उनके शिष्यवर्ग में से कोई किसी ग्रन्थ की रचना का प्रयत्न करता तो वह उसे उत्साहित न करके रोक देते थे, क्योंकि उनमें दृढ़ विश्वास उत्पन्न हो गया था कि मनुष्य प्रणीत पुस्तक द्वारा संसार का बहुविध अनर्थ साधित होता है।

की ओर विरजानन्द ने एक क्षण के लिए भी दृष्टिपात नहीं किया। आर्षग्रन्थों की सर्वकल्याणकारिता के नाम पर उन्होंने अपना सर्वस्व ही अम्लानवदन से विसर्जन कर दिया था और विसर्जन करके ही वे अपने को सुखी समझने लगे। इस आचार्य भूमि भारत में कितने ही आचार्यों ने जन्म ग्रहण किया है किन्तु विरजानन्द के ऋषिप्रणीत ग्रन्थों का ऋषि-महर्षियों को शिक्षा और उपदेश का ऐसा अनुरागी, ऐसा पक्षपाती वा ऐसा मर्मग्राही क्या कभी किसी ने देखा है ?

(१०) विरजानन्द की अध्यापन प्रणाली

विरजानन्द अध्यापन के समय छात्रवर्ग से प्रायः कहा करते थे—"इस समय मैं जिस अग्नि को धूमाकार से तुम्हारे भीतर विनिविष्ट किये देता हूं वह समय पा कर महाग्नि में परिणत होकर "भारतभूमि के भ्रान्त मत और भ्रान्त विश्वास रूप जंजालराशि को भस्मीभूत कर डालेगी।"

पाठक ! दण्डी जी की इस पाठशाला के साथ क्या बोटेम्बर्ग की यूनिवर्सिटी की तुलना कोई कर सकता है ? योरुपीय धर्मसंशोधन के इतिहास में बोटेम्बर्ग यूनिवर्सिटी जिस स्थान पर आरूढ़ है, क्या भारत के धर्मसंशोधन के इतिहास में मथुरा की पाठशाला भी उसी स्थान पर आरूढ़ नहीं है ? क्योंकि जिस अग्नि से पोपों का प्रबल प्रताप विध्वंस हो गया था, पोपप्रचारित उपधर्मराशि छार-छार हो गई थी, वह अग्नि बोटेम्बर्ग में ही उत्पन्न हुई थी* और इस समय जिस अग्नि से इस देश के पोपों† का प्रताप विध्वंस हो रहा है, पौराणिक धर्म की आवर्जनाराशि जिस अग्नि से भस्मसात् हो रही है, वह अग्नि मथुरा की पाठशाला से ही उद्भूत

---

*बोटेम्बर्ग सैक्सनी के अन्तर्गत एक नगर है। सैक्सनी के राजा एलेक्टर फ्रेडरिक ने सन् १५०२ में वहां एक यूनिवर्सिटी स्थापित की। मार्टिन लूथर सन् १५०८ में इस यूनिवर्सिटी में अन्यतम अध्यापक के पद पर नियुक्त हुए। लूथर पर धर्मतत्व की शिक्षा देने का भार अर्पित हुआ। लूथर के प्रवेश से पहले यूनिवर्सिटी में विद्यार्थियों की संख्या अधिक न थी। परन्तु लूथर की अद्भुत विद्वत्ता और अद्भुत वाक्पटुता और अपूर्व व्याख्यान प्रणाली के कारण सैकड़ों विद्यार्थी यहां तक कि दूर-दूर स्थानों के रहने वाले विद्यार्थी आकर वहां पर प्रविष्ट होने लगे। क्रमशः यूनिवर्सिटी के विद्यार्थियों की संख्या दो सहस्र हो गई। लूथर अपने व्याख्यानों में योरुप के तात्कालिक प्रचलित मत पर ऐसी तेजस्विता, ऐसी निपुणता और ऐसी आन्तरिकता के साथ आक्रमण करता कि उनके सुनने के लिए श्रोतृवर्ग आग्रहान्वित हो जाते थे और जो उन्हें सुन लेते थे उनमें से अधिकांश की धर्मविश्वास की भूमि विचलित हो जाती थी। इस सम्बन्ध में लूथर के एक चरित्र-लेखक ने लिखा है—"इस संन्यासी के द्वारा योरुप के धर्म के विश्वास की भित्ति विचलित हो जाएगी।" (Kostlin's Life of Luther P. 54.) उपस्थित प्रसङ्ग में एक और सुपण्डित व्यक्ति ने ऐसा अभिप्राय व्यक्त किया है—'लूथर की व्याख्यानमाला से बोटेम्बर्ग इतना उत्तेजित हो गया था कि वैसा कहीं और देखा नहीं गया। उसकी व्याख्यानमाला के कारण ही बोटेम्बर्ग का यश विस्तृत हुआ था। कि बहुना एकमात्र लूथर की विद्यमानता ही बहुत से लोगों को बोटेम्बर्ग खींच लाई थी।" (Lectures on Great Men by Fr. Myers. P. 19.)

†एतद्देशीय पोप—वृथाभिमानी ब्राह्मणगण।

हुई है। तब पहली के साथ दूसरी का पार्थक्य यही है कि वोटेम्बर्ग ने स्वयं लूथर के द्वारा ही उस अग्नि को जलाया था और मथुरा की पाठशाला ने भारत के लूथर के उठने के पहले से ही उस अग्नि को बढ़ाना आरम्भ कर दिया था।

जैसे अध्यापकगण साधारणतः सब छात्रों को एकत्र करके और उनका श्रेणी-विभाग करके एक-एक श्रेणी को पढ़ाते हैं, विरजानन्द इस प्रणाली के अनुसार नहीं पढ़ाया करते थे। प्रातःकाल से सायंकाल के समय के भीतर जिस समय भी जो विद्यार्थी आ जाता और पुस्तक लेकर बैठ जाता उसी समय उसे पढ़ाने लग जाते थे। कभी-कभी देखा जाता था कि सन्ध्या के पश्चात् रात्रि के आठ-आठ नौ-नौ बजे तक विद्यार्थी दण्डी जी के पास बैठे पढ़ा करते थे। विद्यार्थी जितनी देर पढ़ता विरजानन्द अक्लान्त चित्त और अम्लानवदन से उसे उतनी ही देर पढ़ाते। जब तक पढ़ने वाला स्वयं न थक जाता था, विरजानन्द पढ़ाना बन्द नहीं करते थे। फलतः विरजानन्द को पढ़ाने के काम से क्लान्ति नहीं होती थी, विरक्ति नहीं होती थी। इस कार्य में वह कभी असन्तुष्टि के भाव को प्रकट नहीं करते थे। उनकी इस पाठशाला रूपी अन्नशाला में सदा ही अन्न व्यंजन प्रस्तुत रहता था। केवल आवश्यकता इतनी थी कि तुम वहां जाओ पत्तल डालो और खा आओ। भोजनार्थी जितना चाहता था उतना ही पाता था। इसी कारण देखा जाता था कि जो कोई विद्यार्थी जिस किसी ग्रन्थ को भी लाकर दण्डी जी के पास बैठ जाता था। वह तनिक सा भी इतस्ततः न करते थे और उसी ग्रन्थ को पढ़ाने लग जाते थे यद्यपि व्याकरण में असाधारणत्व के कारण दण्डी जी व्याकरणसूर्य कहलाते थे और यद्यपि वे विशेष भाव से व्याकरण के पढ़ाने में ही रत रहते थे तथापि संस्कृत साहित्य के विशाल भण्डार के भीतर ऐसा कोई ग्रन्थ न था जिसका मर्मोद्घाटन करने में विरजानन्द की बुद्धि प्रतिहत होती अथवा जिसके पढ़ाते समय उनकी प्रतिभा क्षण भर के लिए भी पीछे हटती। एक बार धरणिधर नामी एक नैयायिक पण्डित मथुरा में आये और शास्त्रालाप के उद्देश्य से दण्डी जी की पाठशाला में भी उपस्थित हुये। धरणिधर ने न्यायशास्त्र के अध्ययनार्थ चौदह वर्ष का समय नवद्वीप में लगाया था। थोड़ी ही देर के वार्तालाप के पश्चात् ही धरणिधर को यह बात कह कर विदा लेनी पड़ी—"मैंने चौदह वर्ष का समय वृथा ही नष्ट किया। नवद्वीप न जाकर आपके ही पास आकर पढ़ना अच्छा होता।" पढ़ने के समय के भिन्न विरजानन्द की पाठशाला का द्वार बन्द रहता था। जब कोई आकर बाहर से द्वार को खटखटाता तो वह पूछते 'तुम कौन हो ?" यदि आगन्तुक कहता 'मैं आपका दर्शन करने आया हूं' तो दण्डी जी तत्क्षण उत्तर देते कि दर्शन की आवश्यकता नहीं है, चले जाओ' और यदि आने वाला कहता कि 'मैं विद्यार्थी वा विद्याप्रसङ्गार्थी हूँ' तो झट द्वार खोल कर उसे भीतर बुला लेते और उसको पढ़ाने बैठ जाते वा उसके साथ विद्या सम्बन्धी वार्तालाप करने लग जाते। जैसे जलचर प्राणियों की स्फूर्त्ति जल में होती है, जैसे विहंगमों की स्फूर्ति और शक्ति आकाश के उन्मुक्त वायुमण्डल में होती है वैसे ही विरजानन्द स्वामी की शक्ति और स्फूर्त्ति विद्या में थी। सुतराम् विरजानन्द भूचर होने पर भी

विद्याचर थे और भूलोक वासी होने पर भी विद्यालोक वासी थे।

बंगाल के टोलों और चतुष्पाठियों में देखा जाता है कि अध्यापक चौकी वा कुर्सी पर बैठ कर पढ़ाते हैं। भारत के अन्यान्य स्थानों में देखने में आता है कि शास्त्रीगण गद्दी के ऊपर बैठकर शिष्यमण्डली को शिक्षा देते हैं। परन्तु विरजानन्द कभी किसी ऊंचे आसन पर बैठकर शिक्षा नहीं देते थे। यदि कोई उनसे गद्दी पर बैठ कर पढ़ाने की बात कहता तो वह कह दिया करते थे कि गद्दी पर बैठकर आर्ष ग्रन्थों का पढ़ाना क्या कभी संगत हो सकता है? गद्दी को वह गद्दी नहीं कहते थे बल्कि परिहास रूप से उसे गधी कहा करते थे। ऋषि-चरित्र जिस प्रकार उदारता की आदर्श भूमि हैं ऋषि प्रणोत ग्रन्थ भी उसी प्रकार से समदर्शिता की आकर भूमि हैं। शायद इसी कारण से ऋषिप्राण विरजानन्द ऋषिप्रणीत ग्रन्थों के अध्यापन के समय समदर्शिता की रक्षा करते थे।

वे केवल पढ़ाने के समय ही शिष्यवर्ग के साथ समदर्शिता का परिचय न देते, वरन् वे प्रायः सब समय ही उनको स्नेहदृष्टि से देखते थे। उनके क्लेश और आवश्यकता की खबर रखते। यदि कोई विपन्न हो जाता तो उसकी विपन्नमुक्ति के लिए यथा साध्य चेष्टा करते। वे इस विषय में विशेष दृष्टि रखते थे कि उनके विद्यार्थीगण में कोई निन्दा का पात्र न हो और किसी के आचरण में कोई हीनता प्रकट न हो*। दण्डी जी यही इच्छा करते थे कि वह सर्वथा स्वच्छन्द होकर सर्वत्र

*उल्लिखित पण्डित लेखराम ने अपने लिखे हुये उर्दू के दयानन्द-चरित में एक जगह लिखा है:—

जब स्वामी दयानन्द मथुरा में विरजानन्द के पास पढ़ते थे तब वे कभी-कभी स्वामी दयानन्द को प्रहार भी करते थे। दयानन्द से यमुनाजल के घड़े भरवाकर मंगवाया करते थे इत्यादि[1]। इस बात को विशेष करके कहने का प्रयोजन नहीं है कि वह कथा सर्वांश में निर्मूल और मिथ्या है। केवल युगल किशोर और दण्डी जी के अन्यान्य विद्यार्थीगण ही नहीं बल्कि आज तक भी जीवित मथुरावासी विद्यार्थी पण्डित वनमाली चौबे इसको स्वकपोल-कल्पित घटना लिखते हैं। विरजानन्द कभी किसी छात्र को प्रहार नहीं करते थे, किसी विद्यार्थी से कभी जल भी नहीं मंगवाते थे। विरजानन्द के पास धन का अभाव नहीं था, उनके पास भृत्य का भी अभाव नहीं था और वे स्वयं भी कृपण स्वभाव के मनुष्य नहीं थे। इसलिए वे विद्यार्थियों से जल कैसे मंगवाते? आश्चर्य का विषय है कि इसी निर्मूल घटना का अवलम्बन करके एक व्यक्ति ने इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाले 'लीडर' पत्र† में एक अद्भुत कथा प्रचारित की है। उन्होंने जो कुछ लिखा है उसका मर्म यह है—"एक बार विरजानन्द ने इतने जोर से दयानन्द को प्रहार किया था कि उस चोट का चिह्न मरण पर्यन्त उनके हाथ पर रहा। इस प्रकार प्रहारित होने पर दयानन्द ने विरजानन्द से कहा था 'गुरुजी, हमारा शरीर लोहे के समान कठिन है सुतराम् ऐसे प्रहार से हमें कुछ क्लेश नहीं होता, परन्तु प्रहारोद्देश्य से हस्त संचालनादि में जो क्लेश आपको होता है, हमें उसको जानकर

†The Leader, 3rd. September, 1913. p. 4.

समादृत हों। एक बार मथुरा के सेठ गुरुसहाय मल ने दण्डी जी के पास आकर उनके विद्यार्थियों की कुछ सहायता करने का प्रस्ताव किया। दण्डी जी ने उत्तर दिया कि क्या हमारे विद्यार्थीगण भूखे हैं जो आपका साहाय्य लेंगे ? पाणिनियुग करने से पीछे विरजानन्द ने पढ़ाने के विषय में दो नियम कर दिये थे।

प्रथमत:—जब कोई छात्र आकर पढ़ने की इच्छा प्रकट करता था तो वह उसकी मेधा की परीक्षा करते थे। यदि वे जान लेते थे कि आगन्तुक छात्र मेधा-हीन है तो वे ग्रहण न करते थे और जो वे जान लेते थे कि वह मेधावी है तो उसे ग्रहण कर लेते थे। यहां तक कि उसकी बुद्धि के तारतम्य को समझ कर वे उसी समय कह दिया करते थे कि इसको हम इतने दिन में अष्टाध्यायी का अभ्यास करा देंगे। आश्चर्य का विषय है कि वे जैसा कह देते थे वैसा ही होता था। एक बार एक विद्यार्थी की मेधा-परीक्षा करके उन्होंने कहा था कि यह छः मास के भीतर अष्टाध्यायी पर आयत्व कर डालेगा। वस्तुत: ऐसा ही हुआ। गरुड़ध्वज छः मास के भीतर ही अष्टाध्यायी का अधिकारी बन गया।

द्वितीय:—जब कोई व्यक्ति आकर पढ़ने का संकल्प प्रकट करता तो दण्डीजी उससे पूछते कि तुमने इससे पहले कोई अनार्ष या मनुष्यप्रणीत पुस्तक पढ़ी है वा नहीं ? यदि वह कहता कि हां पढ़ी है तो विरजानन्द उससे तुरन्त ही कहते कि मनुष्य प्रणीत ग्रन्थों का मल रहते हुए तुम्हारे हृदय में किसी प्रकार आर्षज्ञान की आलोकमाला प्रतिभात न होगी। इस लिए तुम मनुष्यप्रणीत ग्रन्थों की सब बात भूल जाओ, जो मनुष्यप्रणीत ग्रन्थ तुम्हारे पास हों उन्हें फेंक दो। जब वह इसके अनुसार कार्य करता तब उसे पढ़ाते, नहीं तो सौ उपरोध से भी उसे अपने विद्यार्थी दल में न मिलाते।

दण्डी जी के पढ़ाने में और भी विशेषत्व था। वह कभी टीका, भाष्य वा वृत्ति की सहायता लेकर नहीं पढ़ाते थे, बल्कि वह टीका भाष्यादि के घोरतर विरोधी थे। विरजानन्द कहा करते थे कि भाष्यादि के प्रचार हेतु से ही अनार्ष ग्रन्थों की संख्या इतनी बढ़ गई है कि नाना मत-मतान्तर उत्पन्न हो गये हैं और उनसे आर्य जाति सैंकड़ों सम्प्रदायों में छिन्न-भिन्न हो गई है। वे पहले तो सूत्र वा श्लोक को कण्ठस्थ कराया करते थे और उसके पश्चात् सूत्रादि का पदच्छेद कर दिया करते थे और एक-एक पद का अर्थ समझा कर अन्त में विद्यार्थी को समस्त सूत्रादि का अर्थबोध करा देते थे। विरजानन्द प्रत्येक विद्यार्थी को अपूर्व और अभिनव प्रणाली से पढ़ाते थे। वृन्दावन के एक शिक्षित गोस्वामी ने एक बार ग्रन्थकार से कहा था कि जिन्होंने दण्डी जी के पास पढ़ा है आश्चर्य का विषय है कि वे ही व्याकरण शास्त्र में कुछ न कुछ व्युत्पत्ति प्राप्त करने में समर्थ हो गये हैं। यह जहां एक ओर स्वामी विरजानन्द के गम्भीर व्याकरणज्ञान का परिचायक है, वहां दूसरी ओर

क्लेश होता है। इसलिए आप फिर इस भाव से अपने को क्लिष्ट न कीजिए'। यह कथा केवल मिथ्या ही नहीं अधिकन्तु हास्योद्दीपक भी है।

उनकी अध्यापन प्रणाली में श्रेष्ठत्व का भी ज्ञापक है। विरजानन्द का अध्यापन साधारणतः अनुलोम प्रणाली के अनुसार सम्पन्न होता था। परन्तु कभी-कभी वे प्रतिलोम प्रणाली का भी अवलम्बन करते थे। जब उन्हें कोई अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धि छात्र मिल जाता था तो वे उसे पाणिनि के सूत्रों को आदि से लेकर अन्त तक व्याख्या के साथ कण्ठस्थ कराते थे और फिर अन्त से लेकर आदि तक अभ्यास कराके पाठ समाप्त करते थे। एतद्भिन्न विरजानन्द उच्चारण की शुद्धि पर विशेष ध्यान रख कर पढ़ाया करते थे। किसी छात्र की उच्चारणगत अशुद्धि को देख कर शब्द विशेष वा सूत्र विशेष को यथायथ आवृत्त न कर सकने पर दण्डी जी कभी-कभी क्रुद्ध हो जाया करते थे और इस विषय में विद्यार्थीगण को सदा सावधानता का अवलम्बन करके चलने को कहा करते थे। जिन लोगों ने विरजानन्द से पढ़ा है उनके मुख से हमने सुना है कि उनकी उच्चारण-भङ्गी ऐसी अपूर्व थी, वे श्लोक ऐसी मधुरता, ऐसी स्पष्टता, ऐसी शुद्धता के साथ पढ़ते थे कि सुनते-सुनते ही उनका बहुत सा अर्थ समझ में आ जाता था। जिन्होंने अन्यान्य आचार्यों से पढ़ा है और विरजानन्द से अध्ययन किया है, वे सभी एकवाक्य हो कर कहते हैं कि उच्चारणगत शुद्धता और आवृत्तिगत अपूर्वता में दण्डी जी श्रेष्ठ ही नहीं बल्कि तुलनारहित थे।

(११) सार्वभौम सभा का प्रस्ताव

सिपाही-विद्रोह से उत्पन्न हुई अराजकता निवारित हो गई है। कानपुर, लखनऊ, बरेली, दिल्ली प्रभृति नगरों ने शान्त मूर्त्ति धारण कर ली है। भारत का शासनदण्ड दूसरे हाथों में चला गया है। इंगलैण्डेश्वरी विक्टोरिया ने भारतेश्वरी होकर सर्वत्र अभयवाणी प्रचारित करने का आदेश दिया है। लार्ड कैनिंग उनके प्रतिनिधि की स्थिति से उस आदेश की घोषणा करने के लिए भारत में इधर-उधर घूमते हैं और अन्त में दल-बल सहित आगरा आकर पहुंच गये हैं।

सन् १८५९ ईस्वी है। नवम्बर मास का अन्त भाग है। आगरा में कैनिंग का दरबार है। इस उद्देश्य से बहुत से स्थानों से बहुत से लोग आगरा की ओर आ रहे हैं। संभ्रान्त और उच्चपदारूढ़ व्यक्ति बुलाए हुए आगरा आये हैं। देशी राजागण निमन्त्रित हुए हैं। इसी हेतु जयपुर, जोधपुर, ग्वालियर और इन्दौर आदि के राजागण अपनी-अपनी सेना और सरदारों के साथ आगरा पहुँच गये हैं। जनताजनित कोलाहल से आगरा के मार्ग परिपूरित हैं, उत्साह और उच्छ्वास से आगरा उद्वेलित है। घोड़ागाड़ियों के घर-घर शब्द से आगरा का राजपथसमूह प्रतिध्वनित है।

इस विराट् समारोह के भीतर दण्डी विरजानन्द कई शिष्यों को साथ लेकर मथुरा से आगरा आए हैं। इस समय दण्डी जी आगरा क्यों आए हैं? जयपुरपति रामसिंह से मिलने के लिए! जो विरजानन्द राजपरिचय, राजसंश्रव और राजानुग्रह को तुच्छ वस्तु समझते हैं, जो विरजानन्द एक सामान्य त्रुटि के कारण अलवरपति विनयसिंह को बिना क्लेश अनुभव किए छोड़ कर आ सकते हैं, वे विरजानन्द आज एक राजा से मिलने के लिए मथुरा से आगरा आए हैं, यह क्या बात है? इसके अतिरिक्त आगरा में आकर मिलने के लिए रामसिंह ने उन्हें बुलाया भी नहीं है*। यदि रामसिंह महाराज से मिलना ही विरजानन्द को आवश्यक होता तो वे आगरा न आकर जयपुर जाकर अनायास ही उनसे मिल सकते थे। फिर ऐसा न करके दरबार के विपुल लोकसंघट्ट के समय में दण्डी जी आगरा क्यों आये?

हम यह बात पहले ही विशेष रूप से कह चुके हैं कि विरजानन्द ने वेदादि आर्षग्रन्थों के प्रचार और पुराण-तन्त्रादि अनार्षग्रन्थों के उच्छेद की

*कोइ-कोई कहते हैं कि उस समय आगरा मिलने के लिए महाराजा रामसिंह ने विरजानन्द को बुलाया था। हमें इस बात की सत्यता में सन्देह है क्योंकि विरजानन्द की प्रकृति से जो लोग सुपरिचित हैं, वे जानते हैं कि वे बुलाने पर कहीं जाने वाले वा किसी से मिलने को जाने वाले व्यक्ति नहीं थे। हम यह विश्वास नहीं करते कि विद्याप्रसङ्ग क अतिरिक्त उन्हें कोई और प्रसङ्ग, कोई अनुरोध वा निमन्त्रण कहीं लिवा जा सकता था।

प्रतिज्ञा की थी। और पाठकों को हम यह भी बता चुके हैं कि इस उद्देश्य को कार्य में परिणत करने के लिए वे सर्वदा ही उत्साहान्वित रहते थे। परन्तु जरा और वार्धक्य ने क्रमशः उन्हें अपटु बना दिया था, धीरे-धीरे उन्हें मृत्यु का सन्निकटवर्ती कर दिया था और वह इस महान् उद्देश्य की सिद्धि में कुछ विशेष कार्य न कर पाय थे। उन्हें इसकी भी कोई सम्भावाना दिखाई न देती थी कि वह अपने जीवन में उसे सुचारु रूप से सिद्ध कर सकेंगे। और वे यह भी समझते थे कि केवल पाठशाला स्थापन और अध्यापन द्वारा ही उनका प्रागुक्त संकल्प सम्यक् रूप से कार्य में परिणत न हो सकेगा। उन्होंने यह उज्ज्वल रूप से जान लिया था कि बिना राजकीय शक्ति की सहायता के उनके व्रत का पूरा होना असम्भव था। परन्तु राजा विदेशी और भिन्नधर्मी था इसलिए उपस्थित विषय में राजा की शक्ति की आशा वृथा और विडम्बनामात्र थी। जब राजकीय साहाय्य के मांगने के लिए दण्डी जी हार्डिञ्ज साहब कलक्टर के पास से हताश होकर आए थे तो उन्होंने यह भी जान लिया था कि इस देश में आर्ष ग्रन्थों के प्रचार में अंग्रेजी राज कुछ न करेगा। क्या देशी राजगण इस विषय में सहायकारी होंगे? क्या वे उत्साहप्रदर्शन वा साहाय्य प्रदान द्वारा दण्डी विरजानन्द के इस महत्तर संकल्प को कार्य में परिणत करने के लिए अग्रसर होंगे? क्या हमारे देशी राजगण की अवस्था वस्तुतः आशाप्रद है? उस समय के राजगण यद्यपि भ्रष्ट बुद्धि और कदाचारी न थे, यद्यपि वे आजकल के राजन्य वर्ग के समान परकीय छन्दानुवर्तिता को अपने जीवन के गौरव का एकमात्र विषय न समझते थे। यद्यपि उस समय तुकाजीराव हुलकर और काश्मीरपति रणवीरसिंह के समान दो-चार राजा भारत में कहीं-कहीं दिखाई देते थे तथापि हमें इसमें सन्देह नहीं है कि उस समय के राजगण भी क्षात्र धर्म के सम्यक् परिपालन में उद्यत नहीं थे और वे अपनी प्रकृति को क्षत्रियोचित गुणों के अनुसारी करके नहीं चलाते थे, सत्य के अनुरोध से यह बात अवश्य स्वीकार्य है कि उस समय के राजाओं में जयपुरपति रामसिंह की प्रकृति में क्षत्रियत्व की मात्रा अधिक परिमाण में देखी जाती है। और क्षत्रियोचित गुणों की मात्रा जितनी उनके चरित्र में देखी जाती है उतनी और किसी राजा के चरित्र में देखने में नहीं आती। कई बार मिलने के कारण से विरजानन्द रामसिंह की क्षात्रलक्षणाक्रान्त प्रकृति की कथा को अच्छी तरह समझ गये थे और इसीलिए अपने उच्चतर उद्देश्य की सिद्धि के विषय में वे देशी राजाओं में से रामसिंह पर ही कुछ भरोसा रखते थे। तो क्या अब यह समझ में नहीं आ सकता कि जब राजकीय साहाय्य के बिना अपने अवलम्बित व्रत के समाप्त होने की सम्भावना बहुत ही कम थी और जब विदेशी राजा की सहायता मिलनी असम्भव थी तो महाराजा रामसिंह से इस विषय में प्रार्थना करना विरजानन्द के लिए आवश्यक हो गया था। इस कारण से महाराजा रामसिंह से मिल कर उपस्थित विषय में विशेष रूप से वार्तालाप करने और भारत क्षेत्र में आर्षग्रंथों के विस्तार रूपी गुरुतर कार्य की सिद्धि में उनकी शक्ति और सहायता लेने की विरजानन्द बहुत दिन से अभिलाषा करते चले आते थे। विरजानन्द इतने दिन तक सुयोग को ढूंढ रहे थे और आगरा दरबार को ही उपयुक्त सुयोग

समझ कर वहां आए थे। आगरा के इस दरबार को उपयुक्त सुयोग समझने का विशेष कारण था। यह निश्चित था कि दरबार-क्षेत्र में जयपुरराजा रामसिंह के अतिरिक्त भारत के नाना स्थानों से नाना राज्यों के राजा महाराजागण एकत्र होंगे। यदि विरजानन्द अपने लक्ष्यसिद्धि के पक्ष में रामसिंह को सहायकारी बना सकते तो यह असम्भव न था कि रामसिंह द्वारा वे दरबार में आए हुए अन्यान्य राजगण से परिचित हो जाते। और यदि सबसे परिचित भी न होते तो इस देश के अधिकांश राजगण की शक्ति, सहायता और उत्साह को प्राप्त करके वे अपने लक्ष्य को सिद्ध करने में समर्थ हो जाते। विरजानन्द ने इन सब विषयों पर विचार करके ही आगरा में पदार्पण किया था। अब पाठक इस बात को शायद समझ जायेंगे कि विरजानन्द के आगरागमन का क्या कारण था।

आगरा में विरजानन्द कहां रहे थे? आगरा में कितने दिन किस प्रकार से अतिवाहित किये? इस विषय में हम कुछ विशेष नहीं कह सकते। परन्तु हम इतना कह सकते हैं कि उनका आगरा-प्रवास यद्यपि बहुत सुखप्रद नहीं हुआ तथापि बहुत अशान्तिप्रद भी नहीं हुआ क्योंकि हमने यह विश्वस्त सूत्र से सुना है कि वहां उनके शिष्यों ने जो उनके साथ गये थे उन्हें सुखी और स्वच्छन्द रखने का सविशेष यत्न किया था।

रामसिंह ने यह सुनकर कि दण्डी विरजानन्द उनसे मिलने के लिए मथुरा से आगरा आए हैं उनसे मिलने का समय निर्दिष्ट कर दिया। उसके अनुसार यथासमय वह महाराजा की सभा में पहुँच गये। रामसिंह ने परिषद्वर्ग सहित उठकर उनका स्वागत किया। स्वागत समाप्त होने पर कुशलवार्ता आरम्भ हुई। उसके पश्चात् विरजानन्द अपने आने के उद्देश्य के वर्णन में प्रवृत्त हुए। आर्यावर्त्त की अधोगति, वेदादि आर्षग्रन्थों का अप्रचार, अनार्ष ग्रन्थसमूह का विस्तार और बहुल प्रचार, शेखर-कौमुदी आदि नवीन व्याकरणों की अनिष्टकारिता, नाना मतों की सृष्टि, विभिन्न सम्प्रदायों की वृद्धि, इत्यादि गुरुतर विषयों को वे रामसिंह को धीरे-धीरे समझाने लगे।

पाठक! यह दृश्य कि एक संन्यासी एक राजा के सामने उपस्थित होकर अपने देश को दुःख-दुर्दशा मोचन के सम्बन्ध में अपने मनोभाव प्रकट कर रहा है, एक ब्राह्मण एक क्षत्रिय के सम्मुख स्वजगत् के उद्धार वा उन्नयन के सम्पर्क में उसे उत्तेजित और उत्साहित कर रहा है, चाहे भारत के प्राचीनतर इतिहास में विरल न भी रहा हो परन्तु यह कहना व्यर्थ ही है कि आधुनिक इतिहास में तो अतीव विरल है। अस्तु, आर्यावर्त्त की अवनति के साथ शास्त्र की विकृति और शास्त्र की विकृति के साथ ब्राह्मणों की अधोगति की कथा कहते-कहते जब वे क्षत्रियों का प्रसंग लेकर चलने लगे तो वे बिना उत्तेजित हुए न रह सके। कुछ उत्तेजना सूचक स्वर से जयपुरपति को सम्बोधन करके वे कहने लगे "महाराज! यथार्थ में क्षत्रियों का आज बहुत ही अभाव है। क्षत्रिय के बिना धर्म किस तरह रक्षित रह सकता है? इसीलिए देश धर्महीन है, ब्राह्मण वेदहीन

हैं। शास्त्र पर शास्त्र प्रचारित हैं परन्तु मानक सत्यहीन हैं। महाराज! आप में कुछ-कुछ क्षात्रलक्षण विद्यमान हैं। आप अग्रसर होओ। मैं सार्वभौम सभा का सङ्कल्प लेकर उपस्थित हुआ हूं। सार्वभौम सभा में नाना दिग्देशीय पण्डितमण्डली को सम्मिलित करो। सभा के परिदर्शक वा परिरक्षक बनकर भारत के जितने राज्य हैं उन्हें आमन्त्रित करो। मैं उस सभा में पुस्तक मर्यादा स्थापित करूंगा। कौमुदी आदि व्याकरण की अशुद्धता दिखाऊँगा, यह सिद्ध करूँगा कि पाणिनि और महाभाष्य ही एकमात्र व्याकरण हैं, पुराण-तन्त्रादि की अशास्त्रीयता प्रमाणित करूंगा और यह सिद्ध करूँगा कि वेदोक्त धर्म ही सत्य और सनातन धर्म है। अन्त में धर्म के परिरक्षक रूप से विजयपत्र देकर आपके राजनाम और राजमान को सार्थक करूंगा और ताकि जो शास्त्र उस सभास्थल में सत्य और आर्ष निर्धारित हों, वही देश में सर्वत्र पठित और पाठित और परिगृहीत हों और उनके साथ ही अनार्ष ग्रन्थसमूह का अध्ययन और अध्यापन एक बार उठ जाए, सभा को भारत के सब स्थानों के लिए आज्ञापत्र दिया जाय। इन सब महान् उद्देश्यों को सामने रखकर सर्वभूमि के कल्याणार्थ सार्वभौम सभा का स्थापन होना आवश्यक है।*

रामसिंह इतनी देर तक निर्वाक् रह कर दण्डीजी की बातें सुनते रहे। जब वे कह चुके तब भी कितनी ही देर तक वे चुप रहे। इस प्रकार की क्षत्रियग्लानिकर कठोरोक्ति उन्होंने अपने जीवन में कभी नहीं सुनी थी। परन्तु जयपुरपति ने

विरजानन्द स्वामी की प्रस्तावित सभा के समान ही (यद्यपि वह सब अंगों में उसके समान नहीं थी) श्रीयुत् प्रोफेसर गोल्डस्टकर ने भी हिन्दू जाति के धर्म सम्बन्धी विरोध और वैसादृश्य को दूर करने के उद्देश्य से एक धर्मपरिषत् स्थापित करने का प्रस्ताव किया था। इस सम्बन्ध में उनका यह मत था कि बौद्धों से संघ और ख्रिस्तानों की कौन्सल का अनुकरण करके एक हिन्दुओं की धर्मपरिषत् स्थापन करना उचित है। वह परिषत् धर्मसङ्क्रान्त यावतीय विरोध और मतपार्थक्य समूह को मीमांसित करके, जैसे परस्पर में सामञ्जस्य स्थापित करेगी, वैसे ही वेदादि पवित्र शास्त्रों से श्लोक संग्रह करके एक ऐसे आदर्श धर्मपुस्तक का संकलन करेगी जो पृथ्वी के समस्त प्रचलित धर्ममतों के साथ तुलना करने पर सर्वांश में उनके समकक्ष हो सके।

*"Buddhists and Christians settled their difficulties in aynods or councils, composed of their most learned and influential men and such councils, metars often as religious problems had become so serious or troublesome as to require a solution by common consent. If the Hindus followed their example they would not only remove intrinsic disorders which exist in their religious body but by forming a canon of sacred texts essentially Vedic prove to the world at large that they may possess one containing doctrines and sentiments as good, moral and elevated as that of any existing creed."

The odore Goldstucker's Literary Remains VII P. 47 & 48. [The Religious Difficulties of India].

शिर नीचा करके यह बात मान ली कि विरजानन्द की तेजोदीप्त युक्ति सर्वांश में ही सत्य और समीचीन है। उन्होंने स्वीकार कर लिया कि प्रस्तावित सभा की सफलता के लिए वे यथाशक्ति यत्न करेंगे और उसका सब व्ययभार भी स्वयं ही वहन करेंगे। परन्तु उन्होंने दण्डी जी को यह समझा दिया कि उपस्थित समय ऐसे कठिन कार्य के लिए किसी प्रकार भी अनुकूल नहीं है। और यह कह कर कि जयपुर लौट जाने पर वे इस सभा सम्बन्धी कार्य को आग्रह पूर्वक हाथ में लेंगे और उसकी कृतकार्यता के लिए सविशेष उद्योग करेंगे, उन्होंने दण्डी जी को आश्वस्त कर दिया। अन्त में विदा का उपहार लाया गया और महाराजा के संकेतानुसार लाई हुई सामग्री दण्डी जी के सामने रखी गई[1]। दण्डी जी ने उसे न लिया और यह कह कर कि मैं धनादि लेने के लिए यहां नहीं आया था, वे खड़े हो गये और अपने निवास स्थान की ओर चल दिए और अधिक बिलम्ब न करके मथुरा चले गये। और बहुत हृष्टचित्त हो कर यह विचार करने लगे कि सम्भव है कि अब उनकी बहुकालारोपिता और बहुयत्नपालिता आशावल्ली फलवती होगी*।

अतः हम दण्डीजी की प्रस्तावित सभा की कुछ आलोचना करेंगे। यह सार्वभौम सभा थी क्या वस्तु? यद्यपि दण्डी जी की उल्लिखित उक्ति द्वारा प्रस्तावित सभा का उद्देश्य और प्रकृति कुछ कुछ ज्ञात हो गई है तथापि उसका विशेष परिचय आवश्यक है। इस सम्पर्क में अर्थात् सार्वभौम सभा की प्रयोजनीयता, प्रकृति और लक्ष्य के सम्पर्क में विरजानन्द ने स्वयं ही जो एक विवरणपत्र लिखा था† हम उसका नीचे मर्मानुवाद करते हैं।

"जिस राजा को सर्व भूमि का राजा कर देवें उसे सार्वभौम राजा कहते हैं। जो सर्व भूमि का उपकार करके सार्वभौम हुए हैं उन्हें महायशा सार्वभौम कहना चाहिए। युधिष्ठिरादि सार्वभौम राजगण के समय में पुस्तकमर्यादा नष्ट नहीं हुई थी, पुस्तकभ्रंश नहीं हुआ था। इसलिए सार्वभौम सभा की स्थापना द्वारा सर्वभूमि के उपकारार्थ पुस्तकमर्यादा स्थापित करनी चाहिए। आनन्द का विषय है कि महाराज रामसिंह ने इस सभा का स्थापन करना स्वीकार कर

---

*ऐसा सुना जाता है कि जब दण्डी जी ने उपहार का द्रव्य नहीं लिया तो रामसिंह ने उसे मथुरा में उनके पास भेज दिया।

†यह विवरणपत्र पूर्वोल्लिखित युगलकिशोर शास्त्री के पास रक्षित था। क्योंकि देहान्त-समय दण्डी जी अपने पोथीपत्र और सब सम्पत्ति युगलकिशोर को ही दे गये थे। इसी सूत्र में यह विवरणपत्र भी उन्हें ही मिला था। एक बार सभा का प्रसङ्ग उत्थापित होने पर युगलकिशोर ने स्वयं इस विवरणपत्र की बात ग्रन्थकार से कहीं थी और ग्रन्थकार के उसकी प्रतिलिपि देने के अनुरोध पर कुछ दिन पीछे शास्त्री जी ने उसकी प्रतिलिपि लेखक को दी थी। इस प्रकार विरजानन्द लिखित सार्वभौम सभा विषयक यह पत्र हमारे हस्तगत हुआ था। यह पत्र ग्रन्थ की समाप्ति पर प्रकाशित हुआ है। मालूम होता है कि आगरा में महाराज रामसिंह के साथ साक्षात्कार और उनसे सभा-विषयक वार्त्तालाप होने के पश्चात् ही यह पत्र लिखा गया था।

लिया है।"

"जो पुस्तकें धर्म का मूल हैं उन्हीं पुस्तकों की स्थिति के लिए सार्वभौम सभा आवश्यक है। जैसे पुस्तकस्थिति की सिद्धि करना इस सभा का कार्य है वैसे ही पुस्तकों का निवारण भी उसका उद्देश्य है। पुस्तकों को—वेदादि आर्षपुस्तकों को सनातन अर्थात् नित्य और अपरिवर्तित भाव में रखने का नाम पुस्तकस्थिति है और वेदादि आर्षग्रन्थों का अवलम्बन करके अन्य पुस्तकों का प्रचार करने का नाम पुस्तकोत्थ है। "ऋषिप्रणीत ग्रन्थों को लेकर ग्रन्थान्तर रचने से धर्म का नाश होता है। ऋषिप्रणीत ग्रन्थों की टीका वा भाष्य लिख कर अन्य ग्रन्थ प्रस्तुत करना उचित नहीं है। क्योंकि शास्त्र में इसे गन्धन दोष कहा है। पुस्तकोत्थ द्वारा इस देश का बहुत अकल्याण हुआ है। तद्द्वारा मतमतान्तर की सृष्टि और सम्प्रदायों की वृष्टि हुई है"।

"मनुष्य का प्रथम गुरु व सद्गुरु पुस्तकस्थ होता है और दूसरा गुरु बहिःस्थित वा बाह्य होता है। पुस्तकस्थ गुरु स्वयं पुस्तककर्त्ता है। पुस्तककर्त्ता शब्द रूपी गुरु होकर उस पुस्तक के भीतर विराजमान रहता है, जो उस पुस्तक को पढ़ाता है। सुतराम् पुस्तक लिखी जा सकती है, परन्तु पौस्तक अर्थात् पुस्तक-स्थित गुरु किस प्रकार से लिखा जा सकता है?"

"भारत के शब्दशास्त्र के आज दो सहस्र वर्ष से निद्रित होने के कारण पुस्तकोत्थ का बहुत विस्तार हो गया है—पुस्तकोत्थ सर्व भूमि में प्रचारित हो गया है। इसीलिए इस समय सार्वभौम सभा को स्थापित करके एक ओर तो पुस्तकोत्थ का निवारण करना और दूसरी ओर पुस्तकस्थिति की सिद्धि करना आवश्यक है।"

प्रस्तावित सभा के विषय में जो कुछ ऊपर लिखा गया है, उससे यह जान पड़ता है कि आरम्भ में उस सभा को स्थापित करने का विरजानन्द का विचार न था इसी कारण उस के प्रसंग में न तो सभापति वा सम्पादक के नियुक्त करने का ही उल्लेख है और न उसके साप्ताहिक, मासिक अथवा अन्य किसी प्रकार के अधिवेशनों का ही उल्लेख है। यही मालूम देता है कि भारत भूमि की समग्र पण्डितमण्डली को और राजन्यवर्ग को एक बार एकत्रित करके और उसी महाधिवेशन में अनार्ष ग्रंथों की अशुद्धता और प्रभूत अनिष्टकारिता प्रतिपादित करके आर्षग्रंथमाला की प्रतिष्ठा और अध्यापना को प्रचलित करना और उसके लिए सम्मिलित राजन्यवर्ग और पण्डितवृन्द की सम्मिलित शक्ति और सहायता को आकर्षण करना ही सार्वभौम सभा का मूल और एकमात्र लक्ष्य था और इसके भिन्न और कुछ न था।

अब मथुरा में वापिस आए हुए विरजानन्द के पास चलते हैं। यद्यपि वे पूर्ववत् पढ़ाने के कार्य में प्रवृत्त रहते थे, परन्तु कभी-कभी उद्विग्नचित्त होकर जयपुर की ओर कर्णपात करने लगते थे। जयपुरपति रामसिंह जयपुर में वापिस आकर क्या कर रहे हैं? सार्वभौम सभा सम्बन्धी प्रतिज्ञा के पालन में कहां तक

अग्रसर हुए हैं ? इत्यादि संवाद जानने के लिए दण्डी जी बीच-बीच में उत्कण्ठित हो उठते हैं। जब रामसिंह की क्षात्रगुणावली पर विचार करते हैं तो आशान्वित हो जाते हैं परन्तु जब इस देश के राजपरिषद् और राजप्रवेष्टनी के विषय पर सोचते हैं तो निराशा से आच्छन्न हुए बिना नहीं रह सकते। अस्तु,जब बहुत दिन तक प्रतीक्षा करने पर भी उन्होंने कोई संवाद न पाया तब सार्वभौम सभा सम्बन्धी प्रतिज्ञा का स्मरण दिलाने के लिए विरजानन्द ने रामसिंह को एक पत्र भेजा और पत्रोत्तर के लिए उत्सुक रहे और कितने ही दिन तक प्रतीक्षा करते रहे, परन्तु जयपुरपति के पास से कोई संवाद न पाया। तब दण्डी जी को स्पष्ट रूप से मालूम हुआ कि उपस्थित विषय में रामसिंह से भी कोई आशा नहीं है*।

यद्यपि विरजानन्द रामसिंह के गुणानुरागी थे, परन्तु ऐसी अवस्था में वे उनके प्रति विरक्त हुए बिना न रह सके। इस विषय में जयपुरपति की ओर से निराश हो जाने पर भी दण्डी जी एक दम निश्चेष्ट व निरुद्यम नहीं हुए और उपायान्तर की चिन्ता करने लगे†।

---

*यह बात नहीं थी कि आगरा से वापिस आकर रामसिंह सार्वभौम सभा की बात भूल गये हों वा तत्सम्बन्धी प्रतिज्ञा-पालन में अमनोयोगी हो गये हों, बल्कि इस विषय में कुछ न कुछ करने का वास्तव में उनका अभिप्राय था। परन्तु वे जब भी सार्वभौम सभा के विषय में दण्डी जी से की हुई प्रतिज्ञा के पालन की कोई बात कहते थे तो क्या परिषद्, क्या अमात्य, क्या सभास्थ पण्डितवर्ग सभी उनको इस कर्म से प्रतिनिवृत्त होने के लिए सविशेष अनुरोध करते थे। वहां की पण्डितमण्डली ऐसी ऐसी बातों के समझाने पर वद्ध परिकर थी कि इस कार्य में प्रवृत्त होने से धर्म की हानि होगी। जयपुर के निर्मल कुल में कलंक लगेगा। ऐसी प्रतिकूलता और इतनी विरुद्धता के बीच में रामसिंह और क्या करते ? दण्डी जी के पत्र का उत्तर न देकर उन्हें अगत्या चुप ही रहना पड़ा। सार्वभौम सभा की सहायता के पक्ष में की हुई प्रतिज्ञा को अपालित ही रखना पड़ा।

†ऐसा सुना जाता है कि सार्वभौम सभा के विषय में रामसिंह की ओर से निराश होकर दण्डी जी ने कश्मीरपति रणवीर सिंह और ग्वालियरपति जयाजी राव सिंधिया और अन्त में भारतेश्वरी विक्टोरिया से भी यह प्रस्ताव किया था, परन्तु दु:ख का विषय है कि वह किसी स्थान में भी कृतकार्यता प्राप्त न कर सके।

(१२) भारतवर्ष के सुधार की प्रणाली में परिवर्त्तन

अब हमने देख लिया कि स्वामी विरजानन्द के सार्वभौम सभा के स्थापन करने, पाठशाला को खोलकर अध्यापन करने, पण्डितों के साथ शास्त्रार्थ करने सभी के मूल में एक ही उद्देश्य अर्थात् आर्षग्रन्थों की प्रतिष्ठा और प्रचार के सिवाय और कुछ न था। वह आर्षग्रन्थ-प्रतिष्ठा की आवश्यकता की बात ऐसे निश्चय के साथ, ऐसे जोर के साथ कहते थे कि उसे सुन कर यही मन में आता था कि मानो प्रत्यक्षीभूत वस्तु की न्याईं वे उसकी भावी कल्याणकारिता की उपलब्धि कर रहे हैं। मूर्तिपूजाखण्डन की बात चलने पर वे कहा करते थे :—"आर्षग्रन्थों का प्रचार करो, ऐसा होने से मूर्ति पूजा अपने आप ही उठ जायगी।" अवतार-वादादि पौराणिक सिद्धान्तों की बात उठने पर वे कह दिया करते थे :—"ऋषि-प्रणीत पुस्तकों का प्रचार करो, ऐसा होने से यह सब भ्रान्त विश्वास अपने आप ही दूर हो जायगा।" किसी सामाजिक कुरीति वा कदाचार के प्रतिकारार्थ अनुरोध करने पर दण्डी जी उत्तर देते थे :—आर्षज्ञान के आलोक को विकीर्ण करो, ऐसा होने से सब ठीक हो जाएगा। विरजानन्द की यही धारणा थी कि जिस आलोक से सारे संसार के अन्धकार का अधिकांश दूर हो सकता है, वह आलोक एकमात्र आर्षग्रन्थ का ही आलोक है। विरजानन्द का ध्रुव विश्वास था कि जिस औषध से समाज की नाना उत्कट और उपसर्पसमन्वित व्याधियों का समूह प्रशमित हो सकता है, वह औषध आर्षज्ञान की ही औषध है। सुतराम् उन्होंने हिन्दुओं को दुःसाध्या और दुश्चिकित्स्य व्याधियों की चिकित्सा के पक्ष में, हमारे समाज रूपी शरीर के चक्षु, कर्ण और हस्तपादादि सारी इन्द्रियों को स्वस्थ और सबल बनाने के विषय में, हमारे शास्त्र, धर्म, रीति, पद्धति और विचार आदि समुदाय को शुद्ध, संस्कृत और उन्नत करने के सम्बन्ध में एकमात्र आर्षज्ञान-के विस्तार वा शास्त्रशुद्धि-साधन को ही वास्तविक उपाय निर्धारित किया था। केवल निर्धारित ही किया हो ऐसा नहीं था, अधिकन्तु जिससे कि भारत-सुधार की यह एकमात्र और यथार्थ प्रणाली देश में सब जगह प्रवर्त्तित और सब जनता से परिगृहीत हो, इसके लिए वे अपना प्राणोत्सर्ग करने पर भी उद्यत थे।

परन्तु क्या भारतभूमि के सुधार-साधन के कार्य में यह उल्लिखित प्रणाली ठीक थी? क्या हिन्दू-समाज के उद्धार के पक्ष में यह उपाय यथार्थ था? क्या आर्य जाति के सारे अवयवों को परिपुष्ट करने के लिए यह औषध ही एकमात्र औषध थी? यह प्रश्न बड़ा ही गम्भीर है। फलतः आजकल जबकि देश-सुधार को लेकर सर्वत्र आन्दोलन हो रहा है, जब कि इस मृत आर्य जाति को सञ्जीवित करने के लिए क्या मद्रास, क्या महाराष्ट्र, क्या पञ्जाब, क्या बङ्गभूमि सभी प्रयत्नपर हो रहे हैं, तब इस बात को विशेष करके कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह विषय चाहे गम्भीर हो किंवा गुरुतर हो इसकी कुछ मीमांसा करनी आवश्यक है।

अब यह देखना होगा कि शास्त्र है क्या वस्तु ? शास्त्र और साहित्य एक ही वस्तु है । यदि हम परिष्कार करके कहें तो यह कहना होगा कि साहित्य एक महा-तरु है और शास्त्र उसकी एक शाखा है, एक प्रधान शाखा है। और सुतराम् साहित्य जैसे साहित्यिक को अमृतत्व देता है, वैसे ही शास्त्र शास्त्रकर्त्ता को चिरञ्जीव करता है । हम पूछते हैं कि क्या कविकुलगुरु वाल्मीकि मर गये हैं ? कौन कहता है वह मर गये हैं ? यह देखो साहित्य की कृपा से, रामायण के प्रभाव से वह आज भी तुम्हारे सामने और तुम जैसे सैंकड़ों मनुष्यों के सामने विद्यमान हैं । क्या तुम नहीं देख सकते कि तुम्हारे सम्मुख वही शान्त-मूर्ति वल्कलधारी तपोवनवासी वाल्मीकि ; पतिप्रत्याख्याता, निर्वासिता, दुःखदग्धा, ससत्वा, सीता देवी को सामने बैठा कर उसकी दुःख कहानी सुन रहे हैं और उसके प्राणों के साथ अपने प्राण मिला कर दो-चार मिष्ट और मर्मस्पृक् बातों से उसको सान्त्वना देने की चेष्टा कर रहे हैं ? फलतः काव्य के बीच में जैसे कवि, इतिहास के बीच में जैसे ऐतिहासिक, उपन्यास के बीच में जैसे औपन्यासिक शब्द रूपी हो कर विराजते हैं, वैसे ही शास्त्र के बीच में शास्त्रकर्त्ता भी उसी रूप से वर्त्तमान रहते हैं । इसलिए अब यह समझ में आ गया कि शास्त्र केवल शब्द रूपी ऋषि वा आचार्य विशेष है । यह भी जान लिया गया कि शास्त्र क्या वस्तु है । अब यह जानना चाहिए कि शास्त्र की आवश्यकता क्या है ? शास्त्ररूपी शब्द ऋषिविशेष वा आचार्यविशेष होता है और जब कि संसार में सभी आचार्य वा ऋषि की प्रयोज-नीयता को स्वीकार करते हैं, तब यह बात तो थोड़े से ही समझ में आ जाती है कि शास्त्र की भी प्रयोजनीयता है । परन्तु इतना समझ में आ जाने पर भी हम इसकी सूक्ष्म-सी आलोचना करेंगे ।

कभी आपने यह भी सोचा है कि मनुष्यकृत कार्यों का प्रवर्त्तक कौन है ? मनुष्य-संसार में जो अहरह कार्यपरम्परा संघटित होती है उसका नियन्ता कौन है ? क्या मन ही मानवीय कार्यसमूह का नियामक नहीं है ? यदि कहो कि मन नहीं बल्कि इच्छा ही सब मानवीय कार्यों की प्रवर्त्तक है तो क्या इच्छा भी मन ही की इच्छाविशेष नहीं है ? यदि कहो कि नहीं बल्कि बुद्धि ही मानवीय कार्यों की नियामक है, तो क्या बुद्धि भी मन ही की अवस्थान्तर या परिणतिविशेष नहीं है ? क्योंकि मन की निश्चयात्मिका अवस्था का नाम बुद्धि है, यह चिन्ताशील लोग स्वीकार करते हैं । इसलिए इसमें कि मन ही मानवीय कार्यों का प्रवर्त्तक है अणुमात्र भी संशय नहीं है। इसलिए यह अवश्य मानना पड़ेगा कि अशेषविध कार्यों का समष्टीभूत जो मानव जीवन है और अशेषविध कार्यों के विकास का क्षेत्रस्वरूप जो मानव समाज है उस मानव-जीवन और मानव समाज के पीछे मन का ही नियन्तृत्व विद्यमान है ।

किन्तु यह मन क्या वस्तु है ? कोई मन को सर्वेन्द्रियप्रवर्त्तक अतिरिन्द्रिय कहते हैं और कोई मन को संकल्पविकल्पात्मक अन्तःकरणवृत्ति कहते हैं । साधारण शब्दों में मन पांच कर्मेन्द्रियों और पाँच ज्ञानेन्द्रियों का राजा, रथी वा परिचालक है । मन स्वभाव से चञ्चल, गति से उच्छृङ्खल और बल से दुर्निवार है। मन जोड़ता है और तोड़ता है, मन पकड़ता है और छोड़ता है। मन रात-दिन दौड़

लगाता है, टहलता है। मन कभी पौर्णमासी की प्रफुल्ल यामिनी को तमस्विनी कर देता है, कभी अमावस्या के अन्धकार के ऊपर ज्योत्स्ना की रजतधारा खींच देता है। मन श्मशान में सुख की दुकान लगाकर बैठता है, कभी सुख की दुकान को श्मशान में परिवर्त्तित कर देता है। आकण्ठ पान करके भी मन अवतृप्त रहता है। समस्त वसुन्धरा का आधिपत्य प्राप्त करके भी मन अशान्त रहता है। प्रचण्ड नदी का वेग रोका जा सकता है, परन्तु इसमें सन्देह है (कि प्रचण्ड मनोवेग पर नियन्त्रण किया जा सके)।

यह सहज में ही समझ में आ सकता है कि ऐसे मन को कर्णधार बनाकर संसार-समुद्र में यात्रा करनी पदे-पदे आपत्तिजनक है। यह प्राय: सभी जगह देखने में आता है कि मन के कर्णधारत्व में समय समय पर नौका के डूबने की सम्भावना रहती है और ऐसी नौका डूबी सैंकड़ों सहस्रों मनुष्यों के जीवन में जब तब घटती रहती है। यदि एक अशासित हस्ती के ऊपर तुम अपने किसी बन्धु को बैठा कर निःशङ्क नहीं होते, यदि तुम एक चञ्चल और अस्थिरमति पुरुष के हाथ में अपने विदेशयात्री पुत्र का भारार्पण करके निश्चिन्त नहीं हो सकते तो तुम किस साहस से और किस युक्ति के बल पर मन को परिचालक के पद पर आरूढ करके निर्विघ्न होकर कर्मक्षेत्र में अग्रसर हो सकते हो? हम यदि यह बात एक बार कहने के बदले सौ बार भी कहें कि साधारण और स्वभाव-नियोजित कार्यों के भिन्न अपरपर कार्यों में वैधावैध के विचार में खाद्याखाद्य के निर्णय में—कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निर्धारण में रीति-पद्धति विशेष के प्रवर्धन वा परिवर्त्तन में, विशेषतः सूक्ष्मतर जटिलतर तत्त्वसमूह के मीमांसाकरण में केवल मन का नियन्तृत्व ही निरापद नहीं है तो भी हम नहीं कह सकते कि हमने ठीक बात कही या नहीं।

यदि कहो कि शिक्षा के प्रभाव से मन परिमार्जित हो जाता है, तीक्ष्णबुद्धि मनुष्यों का मन साधारणतः विचारशील होता है, और जो लोग इस संसार में प्रतिभा के पालित पुत्र होकर जन्म ग्रहण करते हैं उनकी मानसिक दृष्टि स्वभावतः ही उज्ज्वलतर हुआ करती है, इसलिए मन का नायकत्व मान कर चलने में उनके लिए कोई दोष नहीं उत्पन्न होता और उसके द्वारा संसार का भी किसी प्रकार का अनर्थ नहीं होने पाता तो हम कहेंगे कि इससे तो बस इतना ही सिद्ध हुआ कि प्रत्येक मनुष्य के लिए किसी न किसी प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था करना ही पर्याप्त है। परन्तु जिसके द्वारा मन शुद्ध, शासित और संयत होकर उत्तम और शुभकर्मसमूह का अनुष्ठान कर सके, वह वस्तु विशेष रूप से न शिक्षा में विद्यमान है, न शाणित और तीक्ष्ण बुद्धि में है और न प्रतिभा में है*। विशेषतः जो शिक्षा आजकल शिक्षा

*संसार में ऐसे अनेक लोग देखने में आते हैं जो अपनी बुद्धि की तीक्ष्णता और प्रतिभा की समुज्ज्वलता के बल से लोक-समाज में एक जनश्रुति और प्रसिद्ध व्यक्ति कहकर प्रसिद्ध होने पर भी केवल चित्तशुद्धि और संयतचित्तता के अभाव से पङ्क में पतित होकर जैसे हमारे पवित्र चरित्र को अपवित्र बना देते हैं, वैसे ही अपनी बुद्धि और प्रतिभा के नाम से लोगों के मन में अत्यन्त अरुचि और घृणा भी उद्दीप्त कर देते हैं। इसलिए केवल प्रतिभा और मन

नाम से प्रसिद्ध है, जिसका आदर्श और उपादान पाश्चात्य भूमि से संगृहीत वा समानीत हुआ है, उस शिक्षा के प्रभाव से शुद्ध और संयतमना होना तो दूर रहा, वह तो सर्वांश में ही चित्त का विक्षेप करने वाली है, क्या इस बात के कहने की आवश्यकता है ? इसलिए जब तक मन शासित और संयत न हो तब तक उसका नियन्तृत्व स्वीकार करना कभी भी श्रेयस्कर नहीं हो सकता। इसलिए पृथ्वी में इतना गण्डगोल और संसार में इतनी विडम्बना है और जीवन में बारंबार पतन और पदस्खलन है और विचार में पुनः-पुनः भ्रम प्राप्ति होती है।

परन्तु क्या सब मनुष्यों के लिए शुद्ध और संयतमना होकर कर्म में प्रवृत्त होना, किंवा सब इन्द्रियों को अपने वश में करके कर्मक्षेत्र में अवतरण करना सम्भव है ? अथवा क्या ऐसा करना किसी के लिए सहज है ? जो लोग ज्ञान में उन्नत हैं, साधना में सुदृढ़ हैं और तपस्या में अग्रवर्ती हैं, जब वे लोग भी एक जन्म के यत्न द्वारा मन को संयत नहीं कर सकते तो जो मनुष्य आकृति और भाषा को छोड़ कर शेष सब बातों में पशु हैं वा पशुवत् हैं, जो लोग सर्वदा इन्द्रियों की ताड़ना और धन की पिपासा से अस्थिर हैं, जो लोग अपने नीच और अपवित्र उद्देश्य के कारण अन्त्यजों से भी अनादृत हैं—घृणास्पद से भी घृणित हैं—असार व्यक्ति के समीप भी जो असार कह कर परिगणित हैं—जो लोग ऐसे लोगों के पीछे-पीछे दौड़ते हैं, उनके मुख से एक बात सुनने से ही अपने को कृत-कृतार्थ मानते हैं। क्या कभी यह सम्भव हो सकता है कि ऐसे लोग दुर्जेय मन पर जय प्राप्त करके एक ओर मनुष्य नाम को सार्थक सिद्ध करेंगे और दूसरी ओर संसार क्षेत्र में शान्ति स्थापन करने में समर्थ होंगे ?

तब फिर उपाय क्या है ? यदि शासित और शुद्धचित्त हो कर कर्मारम्भ करना साधारणतः मनुष्य के लिए असाध्य है तो क्या कर्म में प्रवृत्त न होकर सब एकदम निष्क्रिय हो जावें ? क्या संसार का कर्म-स्रोत बन्द हो जाए ? परन्तु कर्म-स्रोत तो रुकने वाला है नहीं, क्योंकि मन सतत क्रियाशील है, मन तो किसी न किसी क्रिया को लेकर और भी न हो तो क्रिया के मूल में जो चिन्ता है, उसी को लेकर कभी निरस्त न होगा। इसलिए सत्पथ में यदि न चलेगा तो असत्पथ में चलेगा, स्वर्ग की ओर न जाएगा तो नरक की ओर जाएगा, साधुकर्म में न लगेगा तो असाधुकर्म में लगेगा। इसलिए सहज में ही समझ में आ जाता है कि अशासित चित्त वाला व्यक्ति संसार में अशेषविध अपकार्य की सृष्टि करेगा ही। यदि ऐसा ही है तो क्या करोड़ों मनुष्यों के करोड़ों अशासित मन द्वारा दिन-प्रति-

---

साधारण में प्रचलित शिक्षा वा सुतीक्ष्ण बुद्धिशीलता के ऊपर ही मनुष्यत्व निर्भर नहीं है। एतद्भिन्न, गंभीरतर उच्चतर ज्ञान जो मनुष्य-जीवन का गौरव वा भूषणस्वरूप है, वह केवल प्रतिभा के साहाय्य से प्राप्त नहीं होता, इसीलिए भगवद्गीताकार कहते हैं—"श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।" । (भगवद्गीता अ० ४ श्लो० ४०)

अर्थात् श्रद्धावान् और संयतेन्द्रिय व्यक्ति ही ज्ञान प्राप्त करते हैं।

दिन राशि-राशि अपकर्म अनुष्ठित होते हैं वा नहीं ? और वह राशि-राशि अपकर्म क्रमशः सञ्चित और वर्द्धित होकर संसार क्षेत्र में एक अति प्रबल और वर्द्धित प्रलयङ्कर कर्मविभ्राट् उपस्थित करेंगे वा नहीं ? और वह कर्मविभ्राट् अशेषविध विपर्यय और अशान्ति का हेतु बन कर मानव समाज को विलोडित और विध्वस्त कर डालेगा वा नहीं। ऐसी अवस्था में जो संसार, सौ प्रकार का आशा भरोसा, सहस्र प्रकार का उत्साह-उद्यम और अशेष प्रकार की उन्नति अभ्युत्थान अपने हृदय में लेकर धीरे-धीरे अग्रसर हो रहा है, क्या संसार की ऐसी अवस्था स्थिर रह सकेगी ? और जिस मनुष्य ने मोक्ष का अधिकारी होकर अमर लोक का यात्री होकर इस मर्त्यलोक में आकर जन्म लिया है उस मनुष्य की दशा क्या होगी ?

अधिक कहना व्यर्थ है। मनुष्यकृत पुंज-पुंज अपराध और अपकर्मजनित कर्मविभ्राट् से संसार को बचाने के लिए ही महापुरुषों का आविर्भाव हुआ करता है। वे स्वाति नक्षत्र के समान मानव मण्डल में उदित होकर मनुष्यलोक में केवल कल्याण-जल की वर्षा करते हैं। संसार के प्राण वा बन्धनीरूप अभ्युदित होकर, वे विलयोन्मुख समाज को सजीव करते हैं। वे समाज के कर्मस्रोत को फेर कर कल्याणाभिमुखी करने के लिए केवल शिक्षा और उपदेश देकर हीं शान्त नहीं हो जाते, अधिकन्तु जो कुछ सत् वा महान् है, वे अपने अपने जीवन को उसका ही साक्षीस्थल बनाते हैं। ऐसे ही लोग संसार के कर्णधार और समाज के नेता होते हैं, वही जीवनयात्रा के परिचालक होते हैं। ये लोग जनसाधारण की भाषा में अवतार और शास्त्र की भाषा में ऋषि कहलाते हैं। अस्तु, यहां एक बात याद रखनी चाहिए कि केवल विलयोन्मुख समाज की रक्षा करने के लिए ही बीच-बीच में महाजनों का आविर्भाव नहीं होता, अन्य समयों में भी इनका आविर्भाव हुआ करता है। वे केवल लोकहित के सङ्कल्प में ही अपने शुद्ध और स्वर्गीय जीवन को यापन करते हैं। परन्तु ये समाज के प्राण, मानवरत्न सब समयों और सब देशों में तो आविर्भूत होते नहीं। उनके पापनाशन पवित्र संसर्ग की प्राप्ति भी सबको सब समय में नहीं होती। इसलिए पीछे लोकसाधारण के प्रमत्त मन के नेतृत्व में ही चलना होगा, पीछे अपकर्म के पश्चात् अपकर्म के अनुष्ठान द्वारा बार-बार कर्म-विभ्राट् संघटित न हो, पीछे मनुष्यमण्डली अपने जीवन को सर्व प्रकार संयम और शासन के बाहर लेकर न चली जावे, इसके प्रतीकारार्थ उल्लिखित मानवनेता महाजनगण साहित्य की संजीवनी शक्ति का आश्रय लेकर संसार में चिरञ्जीवी रहने की इच्छा करते हैं। और स्वस्वविरचित शास्त्रों के भीतर अपने-अपने शाब्दिक देह के मध्य में अवस्थित रहकर सार्वदेशिक और सार्वकालिक मनुष्यों को शिक्षा प्रदान करते रहते हैं। क्या कृष्णद्वैपायन व्यास मर गये हैं ? क्या यह कहने से कि उनका देहान्त हो गया है, उनकी मृत्यु हो गई है ? कभी नहीं, क्योंकि यह देखो ! वे वेदान्तसूत्र रूपी शाब्दिक देहधारी होकर आज भूलोक में सर्वत्र विचरण करते हैं। वे केवल आर्यावर्त्तवासी अनेक जन के घर में ही निवास नहीं करते, बल्कि योरुप और अमेरिका के बहुत से पण्डितसमाज में श्रद्धा और प्रीति के साथ

सम्मानित हो रहे हैं। वे ब्रह्मविद्या के सुगंभीर तत्वों को ब्रह्मावर्त्त के वासियों पर ही व्यक्त नहीं करते, जर्मनी और अमेरिका के लोगों के सामने भी उसकी व्याख्या में नियोजित हैं। केवल व्यासदेव ही की बात क्या है, जो लोग भारत-समाज के गौरव होकर पृथ्वी में प्रख्यात हुए हैं, जो लोग आर्यावर्त्त के अलङ्कार और आर्य-जाति के शिरोमणि रूप से आज भी संसार में सम्मानार्ह हैं, वे प्रायः सभी आज शब्द-रूपी होकर अपने-अपने ग्रन्थों के भीतर विद्यमान हैं। वही कणाद और पतञ्जलि, वही गौतम और जैमिनि, वही वसिष्ठ और बाल्मीकि, वही याज्ञवल्क्य और मनु निज-निज कृत शास्त्र रूप शाब्दिक देहधारी होकर भारत के अनेक स्थलों में आज भी विराजमान हैं। इसलिए कौन कहता है कि हे हिन्दुओ! तुम अनाथ हो? कौन कहता है कि हे भारत! तुम आचार्यहीन हो? अस्तु, इस प्रकार हम पूछते हैं कि शास्त्र के समान ऐसी सार्वभौम वस्तु और कौन सी है? शास्त्र के तुल्य ऐसा सार्वजनिक मित्र कहां पा सकते हैं? शास्त्र के समान इस प्रकार का सार्वकालिक सुहृत् किस प्रकार मिल सकता है? शास्त्र के समान ऐसा अयाचित हितैषी भी कहां देख सकते हैं? हे मनुष्यो! तुम्हारी मनुष्योचित मर्यादा को रक्षा के लिए शास्त्र प्रहरी होकर खड़े हैं। शास्त्र मार्गदर्शक होकर तुमको मार्ग दिखाते हैं। शास्त्र तुमको शिक्षा देते हैं कि सत् क्या है असत् क्या है। तुम जितनी बार भी दुर्निवार इन्द्रियदंश से दष्ट होकर क्षत-विक्षत होते हो, शास्त्र उतनी बार ही औषध लाकर तुम्हारा उपकार करते हैं। और जिससे कि यह शतछिद्रसमन्वित क्षुद्र नौका संसार-सागर के भयावह आवर्त्त में पड़कर डूब न जाए उसके निमित्त शास्त्र कम्पास-यन्त्र रूपी होकर तुम्हारे सामने विद्यमान रहते हैं।

यह दिखा दिया गया है कि साधारण मनुष्यों के लिए शास्त्रों की क्या आवश्यकता है, अब इस बात का थोड़ा सा उल्लेख करेंगे कि भारतवासी वा हिन्दू जाति के लिए शास्त्र की प्रयोजनीयता कितनी गुरुतर और अधिकतर है। यह बात सर्ववादियों के सम्मत है कि पृथ्वी में हिन्दुओं के समान शास्त्रप्राणजाति और दूसरी नहीं है, क्योंकि क्या दैव क्या पैत्र्य क्या नैत्यिक क्या नैमित्तिक सब प्रकार के कार्यों में हिन्दुओं के समान शास्त्र का आदेश मानकर चलने वाला और कोई नहीं दीखता। प्रसूतिगृह से श्मशानभूमि पर्यन्त-जीवन के सब स्तरों में—सब विभागों में आर्यों के समान और कोई शास्त्रानुवर्त्ती होकर चलने में समर्थ नहीं है। शास्त्र-विश्वास हिन्दू जाति के रक्त-मांस के साथ जुड़ा हुआ है, शास्त्रनिष्ठा हिन्दुओं के लिए प्रकृतिसिद्ध है। सुतरां शास्त्र को अग्राह्य करके, शास्त्र को दूर फेंक कर इस देश में धर्म का सुधार तथा समाज का सुधार करना दोनों ही असम्भव हैं।

इस विषय में भारत के इतिहास का एक-एक परिच्छेद साक्षीदान करता है। भारतीय विभिन्न मतप्रवर्त्तकों में जो आदि वा प्रथम हैं, यद्यपि उन्होंने कभी किसी शास्त्र का प्रमाण स्वीकार न भी किया हो, यद्यपि गौतम बुद्ध ने स्वयं कोई ग्रन्थ नहीं लिखा, यद्यपि बौद्धमत सब प्रकार से एक स्वतंत्र और शास्त्रनिरपेक्ष मत है*

*कोई-कोई कहते हैं कि कपिलकृत सांख्य मत की छाया का अवलम्बन करके ही बौद्धमत

तथापि बुद्ध की मृत्यु के पीछे उनके शिष्यों ने बौद्धशास्त्र का सङ्कलन और प्रचार किया और उसी शास्त्र का आश्रय लेकर बौद्धधर्म इतने दिनों जीवित रहा और अब भी जीवित है। क्या बौद्ध, क्या जैन, क्या वैष्णव, क्या शैव, क्या वाममार्गी, क्या कबीरपन्थी कोई सम्प्रदाय बिना शास्त्र-साहाय्य के भारत-भूमि में कभी बद्धमूल हो सका है ?* क्या कोई भी आचार्य वा सम्प्रदायप्रवर्त्तक शङ्कर से लेकर आज पर्यन्त शास्त्र की भित्ति पर खड़े हुए बिना, इस देश में किसी बात के कहने में समर्थ हुआ है ?†

प्रवर्तित हुआ था। चाहे सांख्य मत की कुछ-कुछ छाया हो भी, किंवा जो जन्मान्तरवाद हिन्दू-धर्म का प्राण वा मेरुदण्डस्वरूप, है उसे गौतम बुद्ध ने परिगृहित किया भी हो, तो भी इसमें संशय नहीं है कि बौद्धमत गौतम बुद्ध का ही स्वोद्भावित वा स्वीयपुरुषकारप्रसूत व स्वतन्त्रमत है। इस सम्बन्ध में बौद्धमत के प्रचारक सुप्रसिद्ध श्रीमान् अनागारिक धर्मपाल भी ठीक यही बात प्रकट करते हैं—"यह बात कहनी कि बौद्धधर्म वेद, अद्वैतवादपरिपूर्ण उपनिषत् और कपिलसूत्र से गृहीत हुआ है, ऐसी ही है जैसी यह बात कहनी कि डार्विन सिद्धान्त अरिस्तातिल के नीति-शास्त्र वा बाइबिल से अथवा हर्बर्ट स्पेन्सर प्रवर्तित मतामत योरुपीय मध्ययुग के धर्मतत्व-वेत्ताओं की पुस्तकों से गृहीत हुए हैं।*

*"To say that Buddha borrowed in religion from the Vedas and the Pantheistic Upanishads and Kapila Sutras would be like saying that Darwin borrowed his philosophy from the Bible and the Aristotilian Ethics and that Herbert Spencer got his philosophy from treatises of Midaeval theologians.

The Life and Teaching of Buddha by The Anagrika Dharmapal. P. 63-64.

---

*बुद्धदेव की मृत्यु के कुछ मास पीछे जो पहला बौद्धसंघ वा बौद्धसभा राजगृह की सप्तपर्णी नामक गुहा में हुई थी, उसी सभा में बुद्ध की शिक्षा और उपदेश-समूह का सङ्कलन होकर बौद्धशास्त्र प्रस्तुत हुआ था। यह शास्त्र त्रिपिटक नाम से प्रसिद्ध है। त्रिपिटक बौद्धों के लिए विशेष सम्मानार्ह है। इस सभा में पांच सौ ज्ञानापन्न श्रमण नाना स्थानों से आकर इकट्ठे हुए थे। सप्तपर्णी गुहा को राजा अजातशत्रु ने इसी सभा के लिए निर्मित किया था।

Buddhism by Rhysd Davids P. 213.

†इससे कोई यह न समझे कि उल्लिखित सम्प्रदायप्रवर्त्तकगण-कृत ग्रन्थसमूह को वा उनमें से किसी एक को हम सत्य शास्त्र वा आर्ष शास्त्र मानकर ग्रहण करते हैं अथवा विश्वास करते हैं। भारतवासियों की प्रकृति में शास्त्रानुवर्तिता का विशेषत्व दिखाने के लिए ही इस बात की अवतारणामात्र की गई है।

हम नहीं कह सकते कि भारत में ब्राह्म सम्प्रदाय के अतिरिक्त कोई सम्प्रदाय विद्यमान है वा नहीं, जिसने किसी प्रचलित शास्त्र के किसी अंश को भी भित्तिरूप न मानकर केवल अपनी अभिरुचि, युक्ति और स्वभावसिद्ध साधारण बातों के ऊपर सम्पूर्ण रूप से निर्भर

इस बात को तो विदेशी पादरी लोग भी समझ गये हैं कि इस देश में हिन्दुओं की शास्त्रानुवर्त्तिनी प्रकृति की उपेक्षा करके मतप्रवर्त्तन, सम्प्रदायगठन वा किसी प्रकार का संस्कारसाधन कुछ भी नहीं हो सकता। इसी कारण वे बाइबिल का गीता के साथ एकत्व सिद्ध करने की चेष्टा कर रहे हैं और कृष्ण को क्राइस्ट सिद्ध करने के लिए व्यस्त हो गये हैं। इस सम्बन्ध में जसुइट पादरी राबर्ट नोबिली† का दृष्टान्त विशेष उल्लेख करने योग्य है। उन्होंने अपना नाम तत्वबोधक स्वामी रक्खा था और ऋग्वेदादि वेदचतुष्टय के समान ईशुर्वेद नामक एक स्वतंत्र वेद की रचना की थी। वह स्वकपोलकल्पित वेद को हाथ में लेकर उपदेश देने के लिए खड़े होते थे और इस बात को सिद्ध करने के लिए कि ईसा एक वेदोक्त अवतार थे और ईसाई मत भी एक वेदोक्त मत है, अपने ईशुर्वेद में से श्लोक पर श्लोक उद्धृत कया करते थे हिन्दू। श्रोतृगण इस बात को सुनकर अवाक् रह जाते थे और यह समझ कर कि ईसा और ईसाई मत शास्त्रोक्त और वेदोक्त हैं—हिन्दुओं के दल के दल नोबिली के पास आकर दीक्षा ले लेते थे और ईसाई सम्प्रदाय में प्रविष्ट हो

किया हो। परन्तु क्या ब्राह्म सम्प्रदाय इस देश की जाति-साधारण में बद्धमूल हो सका है वा कभी हो सकेगा? और यह भी कौन कह सकता है कि ब्राह्मगण किसी ग्रन्थ-विशेष को अभ्रान्त रूप से ग्रहण नहीं करते? क्या नवविधानाचार्य केशवचन्द्रसेनकृत जीवनवेद, नवसंहितादि पुस्तकों को तन्मतावलंबियों में अभ्रान्तशास्त्र रूप से परिगृहीत नहीं किया जाता?

इस देश में सुधार-कार्य में शास्त्र की अनुवर्तिता की प्रयोजनीयता के विषय को जैसा उज्ज्वल रूप से प्रवीण बहुदश और विख्यातनामा दीवान रघुनाथ राव बहादुर ने समझा है, वैसा बहुत कम लोगों में देखा जाता है। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है :—किसी सामाजिक विषय का परिवर्तन चाहने में साथ ही साथ जनसाधारण में यह दृढ़ प्रतीति जमाने की आवश्यकता है कि यह परिवर्तन किसी बंश में भी शास्त्राभिप्राय के प्रतिकूल नहीं है और उनके द्वारा कोई अनर्थ भी उत्पन्न नहीं होगा। इस कार्य में सफलता क्रमबद्ध प्रचार और शास्त्रमूलक युक्ति-तर्क-संबलित सुलभ साहित्य के बहुल विस्तार से हो सकती है। हमारा विश्वास है कि यदि शास्त्रों का परिहार किया जाएगा तो हम सुधार के कार्य की ओर लोकसाधारण को आकर्षित नहीं कर सकेंगे।*

*I believe therefore that social changes should be introduced by convincing people that they are not against the Shastra and that they will not produce any evils. This can only be done by constant preaching, by circulation of cheap and free literature containing arguments based on Shastra. I believe that the masses cannot be approached if we divorce shastra from 'sociology'.

Diwan Raghunath Rao's Lecture on Sociology P. 11-12.

---

†राबर्ट नोबिली रोम के एक भद्रवंशसमुद्भूत व्यक्ति थे, वे ईसा की पन्द्रहवीं

जाते थे* अस्तु। और अधिक आगे चलने की आवश्यकता नहीं है।

पुस्तक क्रमशः बढ़ता जाता है। अब हम इस चैतन्य शून्य जाति को कुछ क्षण के लिए जगाकर पूछना चाहते हैं कि जिस शास्त्र की प्रयोजनीयता सार्वजनिक और सार्वकालिक है, जिस शास्त्र की आवश्यकता जीवन के प्रत्येक पद और प्रत्येक स्तर में पड़ती है, क्या उस शास्त्र को कलुषित होने देना कभी उचित हो सकता है? विशेषतः जो शास्त्र आर्यजाति की चिरन्तन सम्पत्ति है, आर्यजाति का अपरिहार्य सङ्गी, आर्य समाज का सार्वकालिक रक्षक है, क्या उस शास्त्र को विकृत होने देने से इस देश का कोई कल्याण हो सकता है? जब कि शास्त्रापेक्षी न होने से, शास्त्रानुवर्त्ती होकर न चलने से हिन्दुओं का कोई कार्य साधारण हो वा विशेष सुचारुरूप से सिद्ध नहीं हो सकता कि शास्त्र को कितने ही अशास्त्रों से मिश्रित करते और उस मिश्रित शास्त्र को ही शास्त्र रूप से प्रचारित करने से हिन्दुओं को उन्नत

शताब्दि के अंतिम भाग में ईसाई मत का प्रचार करने के लिए इस देश में आए थे और दक्षिण भारत में मदुरा नामक नगर में बहुत समय तक रहे थे। नोबिली पहले गोआ में पहुँचे थे और वहां के आर्च विशप की अनुमति लेकर मदुरा में प्रचार करने के लिए आ गये थे। नोबिली अपने को ब्राह्मण प्रसिद्ध करते थे और त्रिदण्डी धारण करते थे और ब्राह्मण पण्डितों के समान शुद्धाचारी रहकर जीवन व्यतीत करने का यत्न करते थे। वे मत्स्य-मांस का भोजन न करते थे। मद्य का स्पर्श नहीं करते थे। नियमित रूप से पूजादि किया करते थे। स्नान करके बहुत देर तक नदी के जल में खड़े रह कर जप-जाप में प्रवृत्त रहा करते थे। बीच-बीच में उपवास भी किया करते थे। संन्यासियों के समान गेरुवे वस्त्र धारण किया करते थे और किसी के साथ न मिल कर अपेक्षया निर्जन स्थान में अवस्थित रहते थे। कोई-कोई उनके ब्राह्मणत्व के सम्बन्ध में संदेह करके उस विषय में उनसे बहुत कुछ पूछ-ताछ करते थे, परन्तु कोई भी उनसे यह बात नहीं पूछ सकते थे। जन्मभूमि के विषय में पूछने पर वे उत्तर देते थे—'रोम'। यह पूछने पर कि रोम कहां है, वे कहा करते थे कि बहुत देश-देशान्तरों के पार जाना होता है। यह बात किसी से न कहते थे कि समुद्र-पार जाना होता है, क्योंकि समुद्र पार जाना वर्तमान समय के हिन्दुओं के मत में धर्मविरुद्ध कार्य था। इसलिए मदुरा के आस पास रहने वालों को यह विश्वास हो गया था कि सम्भवतः हिमालय के पास के किसी देश में उत्पन्न हुए ब्राह्मण होंगे। नोबिली अपने को तत्त्वबोधक स्वामी के नाम से परिचित कराते थे। संस्कृत में विशेषतः वैदिक भाषा में वे इतने अभ्यस्त हो गये थे कि ठीक उसका अनुकरण करके उन्होंने इजुर्वेद की रचना की थी। ब्राह्मण लोगों ने उसको जाली वेद सिद्ध करने के लिए उसमें अनेक दोष निकालने का यत्न किया, परन्तु वे कृतकार्य नहीं हो सके। ईजुर्वेद को दिखाकर सैंकड़ों लोगों को ईसाई मत में दीक्षित किया था। उनकी ख्याति और प्रबल धर्मनिष्ठा की बात मदुरा से बहुत दूर-दूर तक प्रचारित हो गई थी और दूर-दूर से लोग तत्त्वबोधक स्वामी के दर्शनों के लिए आग्रह पूर्वक आते थे।

†पन्द्रहवीं शताब्दि के शेष भाग में नहीं बल्कि सोलहवीं शताब्दि के शेष भाग अथवा सत्रहवीं के प्रारम्भ में होना सम्भव है।

---

*देखो पृष्ठ ११७ J.N. Farquhar M.A. प्रणीत Gita and Gospel. नामक पुस्तक।

कैसे किया जा सकता है ? जब कि शास्त्रविश्वास और शास्त्रनिष्ठा हिन्दू जीवन का एक अपरिहार्य अङ्ग है, तब शास्त्र के साथ कुशास्त्र को मिलाने और उस मिले हुए और पङ्किल शास्त्र को शास्त्ररूप से प्रतिष्ठित करने से क्या हिन्दू-जीवन को शुद्ध पवित्र और निःस्वार्थ कर्ममय बनाने में कोई समर्थ हो सकता है ? विशुद्ध और उत्कृष्ट दुग्ध के साथ कर्दम के मलमूत्र मिश्रित जल को मिलाकर पीने से क्या मनुष्य कभी स्वस्थदेही हो सकता है ? यदि कोई मनुष्य कभी स्वयं ही पहरेदार होकर चोरी करने लग पड़े तो फिर वहां क्या चोरी की सीमा रह सकती है ? यदि रक्षक स्वयं ही भक्षक बन जाए तो फिर क्या लोकयात्रा का निर्वाह निरापद् रह सकता है ? यदि गुरु स्वयं लम्पट स्वभाव हो जाए तो क्या फिर उसके शिष्यों के परिवार में व्यभिचार की सीमा रह सकती है ?

क्या अनार्ष वा मनुष्यप्रणीत शास्त्रों के कारण धर्म के नाम पर, पवित्रता के नाम पर हिन्दूसमाज में सैंकड़ों प्रकार के पापाचार, कदाचार नहीं हो रहे हैं ? क्या मनुष्यप्रणीत ग्रन्थों के विस्तार के कारण देश नीतिरहित और धर्म रहित नहीं हो रहा है ? जिस देश के लोग सुरापान और परस्त्रीगमनादि महापातकों तक को धर्म के नाम पर चलाने के संकल्प से कागज़ कलम लेकर शास्त्र प्रस्तुत कर सकते हैं और पञ्चमकार* नामक अति बीभत्स और निन्दित आचार तक को जिस देश के लोग शिववाक्य[1] कह कर परिगणित और प्रचारित कर सकते हैं, क्या उस देश में नीति का कुछ भी आदर्श हो सकता है ? विवस्त्रा गोपियों के उतरे हुए वस्त्रों को छिपाने के अभिप्राय से कृष्ण यमुनातीरवर्त्ती एक कदम्ब के वृक्ष पर चढ़ गये थे और वहाँ चढ़े-चढ़े उन्होंने उन विवस्त्रा व्रजाङ्गनाओं के नग्न कुच, नग्न योनि और नग्न नितम्बों को देख कर परमानन्द प्राप्त किया था और उन लज्जाभिभूता-व्रजस्त्रियों को और भी लज्जित करने के लिए उन्होंने उनके साथ नाना प्रकार का रसालाप किया था—यह कथा भागवत ग्रन्थ में वर्णित[2] और लोकसमाज में प्रसिद्ध है। हम पूछते हैं क्या इन्हीं सब कारणों से यह स्थान उस कदम्ब के वृक्ष के नीचे का स्थान † एक पुण्यप्रद तीर्थस्थान रूप से परिगणित हो गया है ? यदि ऐसा है तो क्या यह कहने में कोई आपत्ति हो सकती है कि इस देश से पवित्रता का आदर्श अन्तर्हित हो गया है ? कृष्ण ने रास प्रसङ्ग में रासमण्डलवर्त्तिनी व्रजस्त्रियों का चुम्बन किया था, अपने मुख का चबाया हुआ ताम्बूल नृत्य करने वाली गोपियों के मुख में दिया था और यथारीति उनके साथ सम्भोग भी किया था‡। इतनी बातें

---

*मद्यं मांसं तथा मीनं मुद्रा मैथुनमेव च ।
पञ्चतत्वमिदं देवि ! निर्वाणमुक्तिहेतवे ॥

†यह स्थान वृन्दावन में चीरघाट वा वस्त्रहरणघाट के नाम से प्रसिद्ध है।

‡आजकल के विकृत और वैज्ञानिक व्याख्याबहुल समय में कोई-कोई अतिबुद्धिसम्पन्न व्यक्ति कृष्णचरित्र के सम्बन्ध में पुस्तक और प्रबन्धादि लिखकर सिद्ध करना चाहते हैं कि रासलीला के उपलक्ष्य में कृष्ण ने व्रज की गोपियों के साथ मैथुनादि कुछ भी नहीं किया था। रासलीला के शेषांश में परीक्षित प्रश्नों के उत्तर में शुकदेव तक ने स्वीकार किया है, यहां तक

करने पर यदि वह 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' कह कर परिगृहीत और पूजित हो सकते हैं, तो यह स्वीकार करने में क्या बाधा हो सकती है कि भारतवासियों का धर्मज्ञान केवल लुप्त ही नहीं हो गया बल्कि उनकी विचारशक्ति बुद्धि, सहजबुद्धि तक भी वक्र, विकृत और विपर्यस्त हो गई है ?

हाय ! हाय! हिन्दुओ! तुम्हारा यह सर्वनाश किसने किया ? तुम्हें अधोगति की चरम सीमा में किस ने खींच कर डाल दिया ? संसार में तुम्हें इस प्रकार से किसने अमानुष बना दिया ? इसका केवल एकमात्र उत्तर है—अनार्षशास्त्ररूपी विष ने आर्षशास्त्ररूपी उपादेय अमृतोपम अन्न के साथ मिलाकर उसे विषमिश्रित अन्न में परिणत कर दिया है। अन्न से मनुष्य के प्राणों की रक्षा होती है, विष मिश्रित अन्न से प्राणों का नाश होता है। हिन्दुओ ! तुम इस विषमिश्रित अन्न को बहुत दिनों से खाते आ रहे हो। इसलिए हे हिन्दुओ ! तुम जीवित रहते हुए भी आज मृतक हो।

भारत के हितेच्छुवर्ग ! तुम शिक्षा-विज्ञान का विस्तार करके हिन्दुओं को उठाने को चेष्टा करते हो, अच्छा है। परन्तु क्या इससे हिन्दू उठ खड़े होंगे ? जिसके शरीर का रक्त दूषित हो गया है, यदि उसपर दिन में दस बार साबुन मलें तो भी क्या उसका कोई उपकार हो सकेगा ? तुम योरुपीय आदर्श और योरुपीय प्रणाली के अनुसार नगर-नगर में कल-कारखाना खोलने का उद्योग करते हो, परन्तु क्या इससे देश जाग उठेगा ? जिसके मस्तिष्क में विकार हो गया है क्या उसके हाथ में प्रचुर धन देने अथवा उसे कभी-कभी पुष्टिकर भोज्य पदार्थ खिलाने से उसका कल्याण कर सकोगे ? क्या मैले कपड़े पर कभी रंग चढ़ सकता है ? हम पूछते हैं कि क्या तुम इतनी चेष्टा-चीत्कार करने से रंग चढ़ा सकोगे ? सच्ची बात तो यह है कि कर्मशुद्धि के बिना न तो जीवन के, न समाज के, न शिल्प, वाणिज्य, कृषि, राजनीति प्रभृति समाज के विभाग की कुछ भी उन्नति सम्भव हो सकती है। कर्मशुद्धि के भाव से परिचालित न हो कर यदि किसी आत्महितकर वा लोकहित-कर कार्य में प्रवृत्त हुआ जायगा तो वह कर्म कभी भी यथायथ रूप से निर्वाहित न

कि श्रीधर स्वामी और जीव गोस्वामी प्रभृति टीकाकारों ने भी माना है कि कृष्ण ने व्रज की स्त्रियों के साथ व्यभिचार किया था। तब 'तेजायसो न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा'[3] अर्थात् सर्वभुक् वह्नि के समान तेजस्वी पुरुषों को दोष नहीं होता। एवं "ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्"[4] अर्थात् ईश्वरीयशक्तिसम्पन्न व्यक्तियों का वचन ही मान्य होता है, उनका आचरण सब काल में मान्य वा अनुकरणीय नहीं होता। इस प्रकार कुछ मानकर कुछ न मान कर उत्तर देने से शुकदेव ने परीक्षित के प्रश्नों से अपने को बचाने की चेष्टा की है। परन्तु यह सब बुद्धिमान् व्यक्ति स्वीकार करेंगे कि इस प्रकार के टालमटोल वा शुकदेव का उत्तर किसी प्रकार भी युक्तियुक्त और विचारसिद्ध नहीं है। फलतः यह अति बुद्धिसम्पन्न लेखकगण अपनी विकृत और स्वकपोलकल्पित व्याख्या द्वारा रासलीला के कृष्ण को सफेदी (white-wash) करके कुछ उज्ज्वल करने के संकल्प में बार बार कितनी ही चेष्टा करें, परन्तु हम एक बार नहीं सौ बार कहेंगे कि उनकी यह चेष्टा और इस प्रकार का उद्योग मिथ्या चेष्टा और मिथ्या उद्योग मात्र है।

हो सकेगा। इसीलिए जब तुम शिल्पकला की उन्नति करने जाते हो तो अकृतकार्य रह जाते हो। जब वाणिज्य-व्यापार की श्रीवृद्धि करने जाते हो तो भग्नोद्यम होकर लौट आते हो। राष्ट्रीय आन्दोलन में प्रवृत्त होते हो तो व्यर्थमनोरथ रह जाते हो। आजकल देश के प्रायः सभी प्रदेशों से समय-समय पर यह बात सुनने में आती है कि "देश में मनुष्य नहीं हैं—वास्तव में किसी विभाग में भी हमारा कोई नेता नहीं है" बात तो बिल्कुल ठीक है। वस्तुतः देश में मनुष्यों का अभाव है, नेताओं का अभाव है। इसका प्रधान कारण यह है कि इस देश में जो लोग नेता होने के अभिमान में इधर-उधर घूमते हैं उनमें से एक व्यक्ति भी कर्मशुद्धि के भाव से अनुप्राणित होकर किसी साधारण हितकर कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। पाठक! कर्मशुद्धि सम्पूर्ण रूप से आभ्यन्तरिक उन्नति पर निर्भर है, मनःशुद्धि के साथ सर्वतोभावेन जटित है। इसे आप एक बार स्थूलदर्शिता के साथ सोच कर देखें।

जब कि यह विज्ञानसिद्ध सत्य है कि जड़ के ऊपर चेतन का कर्तृत्व है, अन्तर्जगत् ही बहिर्जगत् का अधिस्वामी है और मनुष्य का मन, चेष्टा, भाव ही मनुष्य के यावतीय उत्तम और अधम कर्मों के प्रवर्त्तक और सङ्गठनकर्त्ता हैं और जबकि यह इतिहासपरीक्षित सत्य है कि तुम अपनी युगयुगवर्त्तिनी अकर्मण्यता के कारण ही, सैंकड़ों वर्षों की घोरतर स्वार्थपरता, कपट और संकीर्णता के कारण ही आज परम विपन्न अवस्था को प्राप्त हुए हो तो जब तक हिन्दुओं का मन, चेष्टा, भाव—शुद्ध, संयत और उन्नत होकर सत्, महत् और कल्याणकर मर्मपरायणता की सृष्टि न होगी तब तक हिन्दुओं के उद्धार की कोई आशा नहीं हो सकती, नहीं हो सकती, नहीं हो सकती। यह बात हम पहले ही कह चुके हैं कि मन की शुद्धि और संयमसाधन अतीव कठिन व्यापार है। इसीलिए शास्त्रशुद्धि की भी अत्यन्त आवश्यकता है। फलतः हिन्दूजाति के धर्म, शास्त्र, समाज आदि के संस्कारसाधन में, थोड़े से शब्दों में, इस पतनोन्मुख जाति के उठाने में हिन्दुओं के शास्त्र की शुद्धि ही अपरिहार्य रूप से आवश्यक है और शास्त्रशुद्धि ही भारतवर्ष के सुधार की एकमात्र और अभ्रान्त प्रणाली है, इस विषय में अब क्या सन्देह है?

क्या भारत वर्ष के सुधार सम्बन्धी इस अभ्रान्त प्रणाली को किसी अन्य आचार्य ने उद्भावित किया है वा उसका आश्रय लिया है? हिन्दुओं के वर्णाश्रमादि के विकृत होने के कुछ समय के उपरान्त शाक्यसिंह का अभ्युदय अवश्य हुआ, परन्तु क्या बुद्ध वास्तव में हिन्दुओं के सुधारक कहला सकते हैं? हम यह बात पहले ही सिद्ध कर आए हैं कि वे एक स्वतन्त्र और शास्त्रनिरपेक्ष मत के प्रवर्त्तक मात्र थे। क्या शंकराचार्य की हिन्दुओं के सुधारकों में गिनती कर सकते हैं!* क्या रामानुज और माध्वाचार्य प्रभृति अन्यान्य आचार्यगण हिन्दुओं के सुधारकों की श्रेणी में आ सकते हैं? कभी नहीं। क्या शंकर, क्या रामानुज

---

* इस विषय में कि शंकराचार्य सुधारक थे या नहीं एक सुलेखक ने बंगला की बङ्गदर्शन पत्रिका में जो कुछ लिखा है, उसे यहां उल्लेखयोग्य समझ कर हम नीचे उद्धृत करते हैं:—

क्या माध्वाचार्य, क्या अन्य कोई—इनमें से प्रत्येक एक-एक सिद्धान्त का प्रचार करके और उस उस सिद्धान्त सूत्र में एक-एक नए सम्प्रदाय को बांध कर एक सम्प्रदायप्रवर्त्तक के रूप में परिगणित हुआ है। ईश नाम के साथ हिन्दू धर्म का सामञ्जस्य विधान करके एकेश्वरवादी सम्प्रदाय की सृष्टि करने के अतिरिक्त नानक के जीवन में और कोई विशेष कार्य नहीं देखा जाता। बंगाल में गौराङ्गदेव ने तान्त्रिक कदाचारों का कुछ प्रशमन किया, परन्तु हिन्दूसमाज के प्राणस्वरूप ब्राह्मणादि वर्णचतुष्टय के विषय में उन्होंने कुछ नहीं किया। और हिन्दूजीवन के मेरुदण्डस्वरूप ब्रह्मचर्यादि आश्रमचतुष्टय की रक्षा और उन्नति के विषय में भी उन्होंने एक बात भी नहीं कही*। सुतराम् जो व्याधि थी वही व्याधि रही, जो

"कोई उनकी बुद्ध के साथ, कोई चैतन्य के साथ, कोई लूथर के साथ, कोई अन्यान्य प्रसिद्ध सुधारकों के साथ तुलना करते हैं। वास्तव में वे समाज के संशोधक नहीं थे। पूर्वोक्त महात्माओं के समकक्ष होने का उन्हें कोई अधिकार नहीं है। उनका हृदय अतिक्षुद्र, स्वार्थपर और उदारता-रहित था। वे बुद्धिमान्, विचारपटु, अगाधविद्यासमुद्रपारयायी थे। जिस क्षमता के बल से अनेक लोग आयत्व को जाते हैं, अनेक लोग देवता, गुरु, अवतार कह कर मान्य कहते हैं, वह क्षमता उनमें अपर्याप्त थी। उनका न्याय, वक्तृताशक्ति, उनकी न्यायरक्षण की गम्भीरता प्राचीन भारतवर्ष में दुर्लभ है। तो भी वे समाज-संशोधक नहीं थे। वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चारों जाति को एक करके भारतवर्ष का मुख उज्ज्वल कर सकते थे। सबको सन्नीति, सत्कार्य, सद्धर्म में लाकर नूतन सभ्यता की नींव डालने में समर्थ थे। परन्तु एक क्षण के लिए भी ऐसे उदार भावों ने उनके अनुदार हृदय कन्दराओं में स्थान नहीं पाया। सुधार के विषय में उन्होंने जो कुछ किया वह इतना ही था कि उन्होंने ब्राह्मणों को शिव, शक्ति प्रभृति नाना देवताओं की उपासना से विरत करके शुद्धाद्वैत मत ग्रहण कराके सर्वाश्रमी होने का परामर्श दिया। उनका सुधारकार्य केवल इतना ही था। इससे भारतवर्ष का दो प्रकार का अनिष्ट हुआ है। प्रथम तो हिन्दुओं में सर्वाश्रम की श्रीवृद्धि हो गई है और वर्गों के साथ ब्राह्मणों की सहानुभूति का ह्रास हो गया है। हम शंकरविजय ग्रन्थ में स्पष्ट देखते हैं कि जब वे उज्जयिनी नगर में वास करते थे तो वहां शूद्रजाति का उन्मत्त भैरव नाम का कापालिक उनसे शास्त्रार्थ करने के लिए उपस्थित हुआ था। उन्होंने उससे कहा था कि "गच्छ कापालिक" स्वच्छन्दता से घूमो, हम तो दुष्ट मतावलम्बी ब्राह्मणों को दमन करने के लिए आए हैं। ब्राह्मणजाति की सेवा ही अन्त्यजयों का कर्म है अतएव शिष्यगण! तुम इसे दूर कर दो। इतना कहने के साथ ही शिष्यों ने उसे मारपीट कर दूर कर दिया। यह था उनका सुधारकार्य"। (बङ्गदर्शन १८८४ आश्विन पृष्ठ २४२-२४३।)

*कोई कोई स्यात् कहेंगे कि इस प्रसङ्ग में ब्राह्मसमाज संस्थापक राममोहन राय का नाम उल्लेख करने योग्य है, क्योंकि वे भी इस देश में सुधारकों में गिने जाते हैं। राममोहन राय आंशिक सुधारक तो अवश्य थे, परन्तु सर्वाङ्गीण सुधारक नहीं थे। मूर्तिपूजन के विरुद्ध प्रबल संग्राम करके एकेश्वरवाद को प्रतिष्ठित करने के अतिरिक्त, क्या वर्ण, क्या आश्रम, क्या किसी अन्य विषय में—जो हिन्दूजीवन के भित्तिस्वरूप और हिन्दूसमाज के प्राणस्वरूप हैं, उन्होंने कुछ भी नहीं किया।

व्याधिजनित उपसर्ग था वही उपसर्ग रहा। न चिकित्सा हुई, न औषध-व्यवस्था हुई। न चिकित्सक का आविर्भाव हुआ और न सुधारक का अभ्युदय हुआ। केवल प्राय: दो सहस्र वर्षों तक रोग-भोग से ही देश अधिक्रान्त रहा। फिर हे हिन्दुओ! तुम आज मुमूर्षशय्या में सोते क्यों न रहते? आश्चर्य का विषय यही है कि ऐसी निदारुण दुर्दशा में पड़े हुए भी हिन्दू आज भी उसके प्रतिकार में उदासीन और निश्चेष्ट हैं। हिन्दू निश्चेष्ट रह सकते हैं परन्तु जो हिन्दुओं का विधाता है वह निश्चेष्ट नहीं है। उसने इस से पहले ही हिन्दुओं को जगा कर उठाने का आयोजन कर दिया है। जो विधाता क्षुद्र वस्तु से वृहद् व्यापार सम्पन्न करता है, जो विधाता तुच्छ मनुष्य से भी परित्यक्त सामग्री से महत्वपूर्ण घटनाओं की सृष्टि करता है, जो विधाता अगण्य मनुष्य द्वारा जगन्मान्य कार्यों का सूत्रपात कराता है, उसी विधाता ने भारतवर्ष के सुधाररूपी एक अतिविशाल और अतिमहान् कार्य के भार को एक अन्धे और असहाय व्यक्ति के हाथ में अर्पित किया है। अन्धे विरजानन्द ने उसी की प्रेरणा से प्रेरित होकर शास्त्रशुद्धिसम्पादन के कार्य को ही भारतवर्ष के सुधार की यथार्थ और एकमात्र प्रणाली समझ कर उसका अवलम्बन किया है। और मथुरा की उस पाठशाला में बैठ कर अनार्ष ग्रन्थ समूह के उच्छेद करने के अभिप्राय से उसने धीरे-धीरे चारों ओर दाहक अनलराशि को जलाया है।

(१३) दयानन्द सरस्वती को भारतवर्ष के सुधार का भारार्पण

अब एक बार देखना है कि जयपुरपति रामसिंह के पास से सार्वभौम सभा के विषय में व्यर्थमनोरथ होकर दण्डी जी क्या कर रहे हैं।

उल्लिखित सभा के विषय में वे अन्य कोई उपाय उद्भावित नहीं कर सके। उस विषय में स्थानान्तर से भी किसी प्रकार आशा-भरोसा नहीं हुआ। पाठक! शायद आपको यह ज्ञात है कि पृथ्वी में मनुष्य को नाना प्रकार के दंशन सहन करके कालातिपात करना पड़ता है। दारिद्र्य का दंशन, रिपु का दंशन, वृश्चिकादि प्राणियों का दंशन, प्रियजनों के विच्छेदादि का दंशन इत्यादि नाना प्रकार के दंशनों से समय-समय पर मनुष्य को क्लिष्ट होना पड़ता है। परन्तु उन सब दंशनों में कौन-सा दंशन अधिक पीड़ादायक है? जिस विषय को मनुष्य सर्वोपरि कर्त्तव्य मानकर अपने हृदय में सर्वोपरि आसन प्रदान करता है, जिस विषय को मनुष्य अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य रूप मानकर अपने विचार के सारांश और हृदय के शोणित से बहुत दिनों तक पालित और पुष्ट करता है उस विषय की असिद्धि से जो दंशन उत्पन्न होता है क्या वह दंशन सर्वापेक्षा पीड़ाकर और ज्वालाप्रद नहीं होगा? पाठकों में से यदि कोई ऐसे दंशन से कभी दष्ट हुए हों तो वे ही उसकी मारक और मर्मन्तुद ज्वाला को समझ सकते हैं। फलतः हमारे दण्डीजी समय-समय पर इसी दंशन से दष्ट होकर एकदम अस्थिर हो उठते हैं। परन्तु करें क्या? उपाय ही क्या है?

सार्वभौम सभा की बात का तो कुछ भी नहीं बना। एक ओर जिन विद्यार्थियों को इतने काल तक निःस्वार्थचित्त होकर पढ़ाते आए हैं, जिनके हृदय में आर्षज्ञान की अग्नि को संक्रामित करने के लिए वे यथाशक्ति यत्न करते आए हैं, दुःख का विषय है कि उनमें से एक भी ऐसा मनुष्य उत्पन्न नहीं हुआ जो उस अग्नि से अग्निमय हो जाए, जो उस अग्नि को चारों ओर फैलाने के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग कर सके। इस कारण नैराश्य रूपी नीहार के संस्पर्श से विरजानन्द का उत्साह और आशा क्रमशः शुष्क होने लगे। वह कभी-कभी विचलितचित्त होकर अपने आप ही रोने लगते कि क्या इस देश में एक भी मनुष्य ऐसा नहीं है जो हमारे इस चिराभिलक्षित संकल्प को कार्य में परिणत करने में समर्थ हो? जबकि हमारा उद्देश्य सर्वांश में इतना अच्छा, महान् और लोकहितकारी है तो क्या परमात्मा एक भी ऐसे मनुष्य को नहीं भेजेगा जो इस वृद्ध के कन्धे से इस कर्त्तव्य के भार को लेकर सर्वतोभावेन चिन्ताशून्य कर दे और नवशक्ति और नवजीवन को प्रतिष्ठा करके आर्यावर्त्त का पुनरुद्धार कर दे?

दुर्भिक्ष का दावानल पश्चिमोत्तर देश में धक्-धक् जल रहा है।[1] उसी दावानल के स्पर्श से बहुत से नर-नारी, बालक-बालिका जल-जल कर प्राणत्याग कर रहे हैं। अन्न की मंहगायी के कारण मनुष्यों की जीवनयात्रा दुरूह हो गई है। सैंकड़ों ग्राम के रहने वाले मुट्ठी भर अन्न की लालसा से घर-बार छोड़ कर नगरों की ओर जा रहे हैं। अन्नक्लिष्ट मनुष्यों के अस्थिपंजर समान देहों को देख कर नगर निवासी और भी भयभीत और सहमे हुए हैं। मथुरावासियों में से भी यदि सब नहीं तो बहुत-से इस अवस्था से भीत और चिन्तित हैं*। ऐसे समय में एक संन्यासी मथुरा नगर में आकर रंगेश्वर महादेव के मन्दिर में उतरा। संन्यासी की आयु ३४ अथवा ३५ वर्ष की होगी। उसके वस्त्र गेरुवे थे, कण्ठ में रुद्राक्ष की माला थी, हाथ में एक लोटा वा घड़ा था और साथ में कुछ पुस्तकें थीं। संन्यासी की आकृति में कुछ विशेषत्व है, उसकी बातचीत और भावभङ्गी में कुछ असाधारणत्व का परिचय मिलता है। वह कुछ दिन के पश्चात् दण्डी जी की पाठशाला में आकर पहुंचा। उसने यथारीति प्रणिपात् के पीछे पढ़ने की इच्छा प्रकट की। पहले ही कहा जा चुका है कि नवागत विद्यार्थी की मेधापरीक्षा करने का विरजानन्द का नियम था। उसके अनुसार इस आये हुए छात्र की बुद्धिपरीक्षा करने और उससे दो-चार बातें करने से ही उन्होंने जान लिया कि यह संन्यासी विद्यार्थी एक अनन्यसाधारण मेधावी है। उन्होंने इस संन्यासी के साथ और भी वार्त्तालाप किया और आपस के वार्त्तालाप से दण्डी जी ने समझ लिया कि यह विशेष गुणसम्पन्न है। अस्तु, अन्यान्य नये आए हुये छात्रों से विरजानन्द जो कुछ कहा करते थे, वही उन्होंने इस आए हुए संन्यासी से भी कहा। उन्होंने कहा कि "अनार्ष ग्रन्थों की बातें एकदम भूल जाओ। यदि अनार्ष ग्रन्थों की शिक्षा का अंश मन में रहेगा तो आर्षग्रन्थों की शिक्षा बद्धमूल न हो सकेगी। अतएव मनुष्यप्रणीत पुस्तकों के उपदेश को एकदम भूल जाओ और तुम्हारे पास जो मनुष्यप्रणीत ग्रन्थ हैं, उन्हें फेंक आओ।" इन सब बातों से समस्त होकर आए हुए संन्यासी ने विदा ली। विदा लेते समय विरजानन्द ने और भी एक बात कही कि "क्योंकि तुम संन्यासी हो इससे जान पड़ता है कि तुम्हारे खाने और रहने के विषय में कोई स्थिरता नहीं हो सकती इसलिए पढ़ने का कार्य सुचारु रूप से समाप्त नहीं होगा। इस लिए भोजन और स्थान की व्यवस्था प्रथम ही करनी चाहिए।" संन्यासी ने इस से भी सहमति प्रकट की और उठ खड़ा हुआ। संन्यासी के चले जाने पर विरजानन्द बार-बार मन में कहने लगे कि विराभिप्रेत लक्ष्यसिद्धि के लिए वे जिस मनुष्य की आशा और भरोसा सर्वथा छोड़कर एकमात्र विधाता पर निर्भर कर चुके थे, ज्ञात होता है कि उसी लक्ष्यसिद्धि के लिए विधाता ने इस मनुष्य को उनके पास भेजा है। और संन्यासी भी पाठशाला से लोटते समय सोचने लगा कि मैं अनेक अध्यापकों के संसर्ग में

*यह दुर्भिक्ष सन् १८६०-६१ ईस्वी में पश्चिमोत्तर देश के प्रायःसभी भागों में भीषण रूप में प्रकट हुआ था।

आया हूं, अनेक आचार्यों से मैंने अध्ययन किया है, परन्तु किसी अध्यापक को इस प्रकार की बातें करते हुए नहीं सुना और इस प्रकार की प्रकृति भी किसी आचार्य में दिखाई नहीं पड़ी। जिस अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति की आशा में मैं इतने समय से घूम रहा हूं, सम्भव है वह इस अन्धे गुरु के निकट प्राप्त हो जाए। इस संन्यासी विद्यार्थी का नाम दयानन्द सरस्वती था।

मथुरा में ज्योतिषी बाबा वा जोशी बाबा के घर के नाम से एक घर प्रसिद्ध था। इस घर वा परिवार की केवल धन वा संग्रामशालिता के कारण प्रसिद्ध नहीं थी। उसकी प्रसिद्धि सदाशयता और आतिथ्य के कारण से ही थी। जोशी-परिवार यद्यपि बहुत दिनों से मथुरा में रहता था परन्तु उसके पूर्वपुरुष गुजरात से आए थे और वे औदीच्य ब्राह्मण थे। जिस समय दयानन्द मथुरा में आए उस समय इस परिवार में एक सत्पुरुष अमरलाल[2] नामी विद्यमान थे। जिस समय दण्डी जी के आदेश से दयानन्द अपने भोजन की व्यवस्था करने का यत्न कर रहे थे तो ठीक ज्ञात नहीं कि किस सूत्र से उनका अमरलाल से परिचय हुआ। अमरलाल को यह मालूम हो गया कि नवागत संन्यासी गुजरात प्रदेश का रहने वाला और उन्हीं की श्रेणी का ब्राह्मण है। इसलिए वह स्वभाव से ही उस संन्यासी की ओर आकृष्ट हो गये। उसके पश्चात् उन्होंने जब यह देखा कि सन्यासी में पढ़ने की इच्छा बहुत बलवती है और उसी बलबती इच्छा से प्रेरित होकर वह मथुरा में दण्डी जी के पास आया है तो उन्होंने प्रसन्नचित्त होकर अपने ही गृह में नियमित रूप से उसके भोजन का प्रबन्ध कर दिया। अमरलाल के घर भोजन करने के विषय में दयानन्द ने अपनी स्वलिखित जीवनी के एक स्थान पर कहा है "मथुरा में हमारे अध्ययन और निवास के सम्बन्ध में अमरलाल की विशेष सहायता थी। भोजन और ग्रन्थादि विषयक प्रचुर साहाय्य के लिए मैं अमरलाल के प्रति बहुत बाध्य रहा हूं। वे मेरे भोजन के सम्बन्ध में इतने यत्नपर थे कि मेरे भोजन का प्रबन्ध किए बिना वे कभी स्वयं भोजन करन नहीं बैठते थे। अमरलाल वस्तुतः ही एक महदाशय व्यक्ति थे।"*

इसके पश्चात् रहने की कथा है। मथुरा के विश्रामघाट के ऊपर वाले भाग में जो लक्ष्मीनारायण का मन्दिर है उसी के नीचे की मजिल की एक कोठरी में संन्यासी के रहने को व्यवस्था हुई थी। यद्यपि यह कोठरी मन्दिर के दरवाजे की बगल में थी और बहुत छोटी थी, तथापि एक मनुष्य के रहने के लिए हर प्रकार से उपयोगी थी। इस प्रकार भोजन और स्थान का प्रबन्ध करके विद्यार्थी दयानन्द विरजानन्द के पास गये और पूर्ण उत्साह के साथ उन्होंने अध्ययन करना आरम्भ कर दिया।

प्रथम ही पाणिनि के पढने में प्रवृत्त हुए। पाणिनि के सूत्रों से निकले हुए प्रकाश के बिना आर्षग्रन्थसमूह मर्मग्राही नहीं होसकता। इस बात का दण्डी जी

*दयानन्द का स्वरचित जीवन चरित्र पृष्ठ १५।

दृढ़रूप से विश्वास करते थे और इसीलिए उन्होंने इस नये आये हुए विद्यार्थी को पाणिनि का पढ़ाना आरम्भ कराया। ऐसा सुना जाता है कि जिस समय दयानन्द ने दण्डी जी के पास पढ़ना आरम्भ किया था, उस समय दयानन्द का पढ़ना इतना शुद्ध नहीं था। इसलिए विरजानन्द उन्हें इस विषय पर विशेष दृष्टि रखने को कहा करते थे। पहली ही बार बात चीत करने में दो-चार बातों के पीछे ही दयानन्द समझ गए थे कि दण्डी विरजानन्द नई कोटि के गुरु हैं। विरजानन्द का यह नूतनत्व दिन-प्रतिदिन और भी प्रकाशित होता गया। दयानन्द ने देखा कि विरजानन्द जो कुछ भी किसी को पढ़ाते हैं, टीका-भाष्यादि की सहायता के बिना ही पढ़ाते हैं। उन्होंने यह भी देखा कि जैसे सूर्यमण्डल से तेजोराशि विनिःसृत होती है, जैसे झरने से जलधारा बहती है, वैसे ही विरजानन्द की वागिन्द्रिय से भी नाना शास्त्रों की नाना व्याख्या अविरत रूप से निकल कर शिष्यमण्डली को विस्मित करती है। स्वयं चक्षुहीन होने पर भी वे प्रज्ञा की चक्षु के प्रभाव से सब शास्त्रों के सब स्थानों का दर्शन करके जिज्ञासित विषय की सुचारु मीमांसा कर देते थे। और शरीर के पञ्चराशिमात्र में पर्यवसित हो जाने पर भी वे युवकजनोचित उत्साह और तेजस्विता के साथ अध्यापन मे रत रहते थे। दयानन्द यह सब अद्भुत और अदृष्टपूर्व व्यापार देख कर इस अन्धे अध्यापक को एक अलौकिक पुरुष स्वीकार करने पर बाध्य हुए, और जितने विस्मयाविष्ट हुए, उतने ही श्रद्धा-भारावनतचित्त होकर उनके पास पढ़ने लगे।

भाष्यों में से विरजानन्द एक महाभाष्य को मानते थे। महाभाष्य पाणिनि-कृत अष्टाध्यायी का भाष्य है। वह भाष्य अद्वितीय है। जैसे कि कोई अष्टाध्यायी ग्रन्थ में व्युत्पन्न हुए बिना वेदादि शास्त्रों का मर्मग्राही नहीं हो सकता ऐसे ही महाभाष्य को विशेष रूप से जाने बिना अष्टाध्यायी का मर्मोच्छेद नहीं किया जा सकता। इसी कारण दयानन्द पाणिनि के साथ महाभाष्य को भी पढ़ाने लगे। पढ़ते समय बीच-बीच में गुरुदेव के साथ शिष्य का वाग्युद्ध भी हो जाया करता था। यद्यपि विरजानन्द वाग्युद्ध में विशारद थे परन्तु दयानन्द भी एकदम चुप होने वाले व्यक्ति नहीं थे। सुतरां यह वाग्युद्ध कभी-कभी घोरतर रूप धारण कर लेता था। इस सूत्र में शिष्य की सुशाणित मेधा और विशेष तर्कपटुता का परिचय पाकर विरजानन्द मन ही मन अतीव प्रसन्न होते थे। और कभी-कभी दयानन्द को कालजिह्व कुलक्कर कह कर पुकारते थे और इस प्रकार उस अन्तर्निहित प्रसन्नता का कुछ-कुछ प्रकाश किया करते थे। कालजिह्व उसे कहते हैं कि जिसकी जिह्वा असत्य के खण्डन में काल के समान हो। कुलक्कर उसे कहते हैं जो शास्त्रार्थ के समय खूंटे के समान अविचलित रह कर शत्रुपक्ष को परास्त करे। विरजानन्द दयानन्द के पढ़ने की दशा से ही जान गये थे कि वह उत्तर काल में आकर एक शास्त्रार्थमल्ल होगा।

गुरुशिष्यगत सम्पर्क वा अध्यापन सूत्र में विरजानन्द जितना-जितना दयानन्द की रीति, चरित, दयानन्द के मन की अवस्था, हृदय की आकांक्षा जानते गये, दयानन्द की प्रकृति किस उपादान से बनी है, दयानन्द का जीवन किस उद्देश्य से

परिचालित है और यह किस अभिप्राय की सिद्धि के कारण उनके पास मथुरा में

पढ़ने आया है ? इत्यादि विषयों को विरजानन्द जितना जानते गये उतना ही विरजानन्द के चित्त को प्रागुक्त संकल्पना सत्यवत् प्रतीयमान होने लगी। वे जब तक यह विश्वास न कर लेते कि यह संन्यासी विद्यार्थी उनके लक्ष्यसिद्धि रूप गुरुतर भार को उनकी छाती वा कन्धे से उठाने के लिए ही आया है, तब तक वह निश्चिन्त नहीं रह सकते थे। जैसे संसारी मनुष्य अपनी धन सम्पत्ति के उत्तराधिकारी व्यक्ति विशेष को पाकर उसे प्रेम की दृष्टि से देखने लग जाता है, वैसे ही विरजानन्द भी दयानन्द को प्रेम की दृष्टि से देखने लगे और सर्वतोभावेन मुक्तचित्त होकर उसे पढ़ाने लगे। अथवा जैसे पुराकालीय समरशिक्षक वा शस्त्राचार्यगण किसी सुनिपुण शिष्य को पाकर उसे रणभूमि में दुर्जेय बनाने के लिए ब्रह्मास्त्र के प्रयोग तक की शिक्षा दिया करते थे, इसी प्रकार उपस्थित क्षेत्र में जो कुछ सञ्चित और सबल विरजानन्द के पास था, वह उस सबकी दयानन्द को शिक्षा देने लगे।

अध्ययन-काल को छोड़ कर अन्यान्य समय में भी विरजानन्द के साथ दयानन्द का वार्तालाप हुआ करता था। किन्तु हमने सुना है कि यह सब वार्त्तालाप प्रायः एकान्त में हुआ करता था। इसलिए हम स्पष्टतया नहीं कह सकते कि यह वार्त्तालाप किस विषय पर हुआ करता था, वे दोनों एकान्त में किस विषय पर कथोपकथन किया करते थे। यही अनुमान होता है कि स्वदेश की दुर्दशा, अनार्ष ग्रन्थों का विस्तार, आर्षग्रन्थों का अप्रचार, उत्तरोत्तर सम्प्रदायों की वृद्धि, नाना धर्मों और मतों की सृष्टि, आर्षग्रन्थों की प्रतिष्ठा से ही भारतवर्ष का कल्याण होगा, वयोवार्धक्य के कारण इस कार्य में स्वयं उन (विरजानन्द) की अपटुता, उसकी सिद्धि में क्या-क्या विघ्न बाधाएँ हैं, इत्यादि विषयों को लेकर ही दोनों गुरुशिष्यों का एकान्त में वार्त्तालाप हुआ करता होगा। इसके अतिरिक्त हमारा अनुमान है कि ऐसा भी न होता होगा कि वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में संन्यासी शिष्य को शंका वा संशय, अभाव वा असंगति पर एकान्त में वार्त्तालाप न होता हो, और इस प्रकार के संशयादि के निराकरण में विरजानन्द अपनी शक्ति और उपदेश का यथोचित्त प्रयोग न करते हों। पाठक ! क्या ऐसे अनन्य-साधारण गुरु का ऐसे अनन्यसाधारण शिष्य के साथ संयोग भारतवर्ष में किसी युग के इतिहास में कभी हुआ है ? क्या ऐसे ब्रह्मचारी गुरु और ऐसे ब्रह्मचारी विद्यार्थी का सम्मेलन कभी हुआ है ? क्या ऐसे भारतहितैषी आचार्य के पास ऐसे भारतहितैषी छात्र का आगमन कभी हुआ है ? उत्तरकाल में दयानन्द की जिस प्रतिभा की प्रभा से भारतवर्ष की सारी पण्डित मण्डली निष्प्रभ हुई, उसके जिस पाण्डित्य के सामने काशी और पूना के शास्त्रीगण नतशिर हुए, उसकी जिस विचारशक्ति के प्रभाव से क्या पादरी, क्या मुसलमान मौलवी, क्या जैन यति, क्या कुतर्कप्रिय संशयवादी सभी ने अपनी पराभूति स्वीकार की। वह प्रतिभा, वह पाण्डित्य, वह विचारशक्ति जिस प्रतिभा के समाने पराभूत, जिस पाण्डित्य के सम्मुख विस्मयावनत, जिस विचारशक्ति के समक्ष हतप्रभ हुई, ऐसी प्रतिभा, ऐसे पाण्डित्य, ऐसी विचारशक्ति का आधार रूप स्वामी विरजानन्द क्या एक साधारण पुरुष था ? क्या एक सामान्य

आचार्य था ? इसीलिए ऐसे प्रश्नों के उत्तर देने के अभिप्राय से ही दयानन्द ने स्वप्रणीत ग्रन्थमाला के बहुत स्थानों में अपने आपको विरजानन्द का शिष्य कह कर अपना परिचय दिया ।[3] ऐसा करने से जहां उन्होंने अपने को गौरवान्वित समझा वहां वे प्रीति-लाभ करके प्रसन्न भी हुए ।

विरजानन्द के निकट दयानन्द का अध्ययनकाल दो वर्ष से कम वा तीन वर्ष से अधिक नहीं था । उन्होंने दण्डी जी से मुख्यतः पाणिनि और महाभाष्य ही पढ़ा था और इन दोनों ग्रन्थों में असाधारण व्युत्पत्ति प्राप्त की थी । एतद्भिन्न, यद्यपि उन्होंने दर्शन, उपनिषद्, निरुक्तादि की सविशेष आलोचना नहीं की थी, परन्तु ऐसा भी नहीं था कि उनकी आलोचना बिल्कुल की ही नहीं थी । तथापि हम यह बात निःसंशय होकर कह सकते हैं कि उन्होंने विरजानन्द से एक वेद भी नहीं पढ़ा था ।[4] अस्तु, अध्ययन समाप्त करके दयानन्द ने विदा ली । अधीतविद्य छात्र के लिए गुरु को दक्षिणा देकर विदा लेने की प्रथा चली आती है, परन्तु दयानन्द के पास गुरुदक्षिणा देने के लिए कुछ भी नहीं था । इस लिए विदा-प्रार्थी नतशिर होकर बोले कि "मेरे पास कुछ भी नहीं है, मैं क्या देकर गुरुदक्षिणा का कार्य समाप्त करूं ?" यह पहले ही कहा जा चुका है कि विरजानन्द कभी किसी शिष्य से गुरुदक्षिणा में कुछ नहीं लेते थे । सुतराम् उपस्थित क्षेत्र में यद्यपि शिष्य ने स्वयं ही यह बात उठाई थी तो भी उन्होंने उस ओर दृष्टिपात नहीं किया और शिष्य की ओर लक्ष्यपात कर के कहा "मैं तुमसे एक नए प्रकार की दक्षिणा चाहता हूं । तुम मेरे सामने प्रतिज्ञा करो कि जब तक जीवित रहोगे तब तक भारत क्षेत्र में आर्षग्रन्थों के प्रचार और वैदिक धर्म के विस्तार में प्राण पर्यन्त भी अर्पण कर दोगे । मैं इस प्रतिज्ञा-परिपालन को ही तुमसे दक्षिणा रूप से ग्रहण करूँगा । इसे सुन कर शिष्य बोला "तथास्तु" । उस समय दयानन्द प्रस्थान के लिए उद्यत थे । विरजानन्द ने शिष्य के सिर पर हाथ रख कर आशीर्वाद दिया और विरजानन्द के वयोजीर्ण कन्धों से वैदिक धर्म की जयपताका अपने कन्धे पर लेकर दयानन्द मथुरा से चले गये ।

(१४) विरजानन्द-संक्रान्त कुछ आख्यायिकाएं

जैसा विरजानन्द के अध्यापन में नूतनत्व था वैसा ही उनकी आहार-व्यवस्था में भी कुछ कुछ नूतनत्व देखा जाता है। वे प्रति दिन एक-वस्तु-भोजन नहीं करते थे। किसी दिन केवल फलाहार करके, किसी दिन केवल दुग्धपान करके रह जाते थे, कभी अन्न खाकर दिन बिता देते थे, कभी यह कह कर कि हमको दूध में पकाया हुआ छुहारा* अच्छा लगता है, उसे ही खाकर शरीर रक्षा करते थे। कभी-कभी संधे लवण के साथ सूंठ का चूर्ण खाकर रहजाने का विरजानन्द का अभ्यास था।†

इसके भिन्न उन्हें एक और द्रव्य का सेवन करते देखा जाता था। वह द्रव्य औषधि है, भोजन का पदार्थ नहीं है। उस औषधि के प्रभाव से मनुष्य की मेधा और स्मरणशक्ति बहुत बढ़ जाती है। आयुर्वेद में उसका नाम ज्योतिष्मती है।‡

आश्चर्य का विषय है कि चक्षुहीन होते हुए भी विरजानन्द सारे कार्य चक्षुष्मान् मनुष्यों के समान करते थे। जब एक पात्र से दूसरे पात्र में जल उंडेलते थे तो एक बिन्दु जल भी पृथ्वी में न गिरने देते थे। जीने पर चढ़ते वा उतरते समय किसी वस्तु का सहारा नहीं लेते थे, बल्कि चक्षुष्मान् के समान झट-झट चढ़ते और उतरते थे। हमने अलवरवासी एक पण्डित से यह वृत्तांत सुना है कि अलवर में रहने के समय पूर्वोल्लिखित विद्यार्थी प्रेमसुख को साथ लेकर वे शहर से बाहर किसी स्थान को जा रहे थे। मार्ग में एक नहर पड़ती थी। जब वे दोनों उस नहर के समीप आए तो उनके साथी प्रेमसुख ने यह कह कर कि नहर है, गुरुदेव को सावधान कर दिया। उससे दण्डी जी प्रेमसुख के प्रति प्रसन्न नहीं हुए, बल्कि कुछ चिढ़ गये और प्रेमसुख से कुछ न कह कर अपने आप ही नहर के इस पार से उस पार और उस पार से इस पार बार-बार आने जाने लगे। प्रेमसुख गुरुदेव का यह कृत्य देख कर अवाक् रह गया।

---

*छुहारा-खजूर विशेष का फल है।

†एक दिन दण्डी जी ने भूल से सूंठ का चूर्ण समझकर संखिया विष खा लिया था। भयङ्कर संखिया के प्रभाव से उनका शरीर बहुत ही अवसन्न हो गया। यह संवाद पाते ही उल्लिखित पं० युगलकिशोर प्रभृति शिष्यवर्ग शीघ्र आकर नाना प्रकार से सेवा चिकित्सा करके गुरुदेव को सुस्थ कर पाया था।

‡ज्योतिष्मती के अन्यान्य गुणों के साथ साथ द्रव्यगुणतत्व में यह गुण भी वर्णन किया गया है कि वह बुद्धिस्मृतिप्रदा है।

ऐसा प्रायः हो जाया करता है कि शास्त्रीय प्रसङ्ग विशेष लेकर आलोच्य ग्रन्थ की आलोचना करनी आवश्यक हो जाती है, ग्रन्थ को हाथ में लेकर निर्दिष्ट स्थल को निकालने की चेष्टा होती है। ऐसे अवसर पर कभी-कभी बार-बार यत्न करने पर भी छात्रगण उसे ढूंढ नहीं पाते थे। ऐसे समय में विरजानन्द उस ग्रन्थ को अपने हाथ में लेकर स्वल्प क्षण के यत्न के पश्चात् ही ठीक उसी स्थल को निकाल कर सबको विस्मयाविष्ट बना दिया करते थे। आंख वाले मनुष्य जिस काम को नहीं कर सकते थे, वे चक्षुहीन होने पर भी उसे कर देते थे। दण्डी जी की यह चक्षुहीनता किस प्रकार की थी यह समझना कठिन है।

यदि किसी ब्राह्मण के नाम में दास शब्द रहता था अथवा कोई ब्राह्मण अपने नाम को दास शब्द से समन्वित करके बोलता था तो विरजानन्द उसका तिरस्कार करके उससे कहा करते थे कि "क्या ब्राह्मण कभी दास हो सकता है?" एक बार मथुरा की छबोलदास कुञ्ज के महन्त का शिष्य गङ्गादास नामक ब्राह्मण विरजानन्द के पास आया और परिचय देते समय उसने अपना नाम बतलाया। विरजानन्द ने विरक्त के साथ कहा कि "गङ्गादास न कह कर गङ्गादेव कहो अथवा गङ्गादत्त कहो।"

यद्यपि दण्डी जी की अलौकिक शास्त्रदर्शिता के विषय में हम कुछ पहले भी लिख चुके हैं तथापि इस स्थान पर भी एक दो घटनाओं का उल्लेख करेंगे।

बम्बई के प्रसिद्ध शतावधानी और आशुकवि पण्डित गट्टूलाल[1] एक बार मथुरा आए। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि संस्कृत साहित्य में, विशेषत: काव्यालङ्कारादि में गट्टूलाल असामान्य थे। परन्तु जिस अल्प आयु में विरजानन्द की आँखें जाती रही थीं उतनी अल्प आयु में पण्डित गट्टूलाल की आंखें नहीं गई थीं। यह सुन कर कि गट्टूलाल मथुरा में आए हैं, अनेक मथुरावासी इन दोनों अंधों का शास्त्रालाप सुनने वा शास्त्रसंग्राम देखने के इच्छुक हुए। इस के लिए एक सभा बुलाई गई। विरजानन्द के उस सभा स्थल में उपस्थित होने पर गट्टूलाल ने उनके सामने एक कविता रच कर सुनानी आरम्भ की। उसे सुनकर दण्डी जी ने कहा कि ऐसी कविता तो हमारे छात्र बना सकते हैं" और यह कह कर वे उस कविता के दोष-गुण दिखाने लगे। तब गट्टूलाल भी चुप हो गए और अन्यान्य संभ्रान्त व्यक्ति भी चुप हो गए।

पण्डित मणिराम भरतपुरपति स्वर्गीय जसवन्त सिंह के अध्यापक थे। न्याय और व्याकरण में मणिराम का विशेष अधिकार था। विरजानन्द के अन्यतम छात्र स्वर्गीय उदयप्रकाश के साथ मणिराम विशेष रूप से बन्धुता के सूत्र में आबद्ध थे। इसलिए वे कभी-कभी भरतपुर से मथुरा आकर उनके साथ प्रणयालाप और शास्त्रालाप करने चले आया करते थे। मणिराम के आने पर उदयप्रकाश अपने खाने सोने को भूल कर उनके साथ आलाप और आलोचना में लग जाते थे। मणिराम को यह सब ज्ञात था कि दण्डी जी के समान एक असामान्य विद्वान् पुरुष मथुरा में इतने समय से पढ़ाने का कार्य करते हैं, विशेषकर

उनके ये अभिन्नहृदय सुहृद् भी उन्हीं के पास पढ़ कर आते हैं, परन्तु मणिराम दण्डी जी के दर्शन करने नहीं जाते थे। यदि कभी मणिराम के सामने विरजानन्द की बात उपस्थित होती तो वे उपेक्षा के साथ विरजानन्द का नाम उल्लेख करते। यह सब जानते हुए भी एक दिन उदयप्रकाश ने मणिराम से दण्डी जी से मिलने के लिए कहा। इस पर मणिराम बोला कि वह तो एक नास्तिक है, क्या आप समझते हैं कि मैं उससे मिलने जाऊंगा? अन्त में एक दिन उदयप्रकाश के विशेष रूप से अनुरोध करने पर मणिराम उन के साथ दण्डी जी के पास गये। यह सुन कर कि कोई पण्डित वा विद्वान् पुरुष मिलने के लिए आए हैं, विरजानन्द उनका आदर के साथ अभ्यर्थना करते थे। सुतराम् मणिराम की भी आदर के साथ अभ्यर्थना की गई। मणिराम बैठ कर और एक श्लोक पढ़ कर दण्डी जी की ओर लक्ष्य करके कहने लगे कि "इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है और इस प्रकार भी और फारसी में इसका अर्थ इस प्रकार हो सकता है।" विरजानन्द इतनी देर तक चुपचाप मणिराम की भिन्न-भिन्न व्याख्या सुनते रहे। परन्तु जब मणिराम ने यह कहा कि फारसी में इसका अर्थ इस प्रकार हो सकता है तो इन शब्दों के समाप्त होने पर वे गर्जन करके कहने लगे कि अब तक मैंने समझा था कि आप संस्कृत नहीं जानते परन्तु अब मैं समझा कि आप फारसी भी नहीं जानते*। यह कहकर वे मणिराम की व्याख्या की त्रुटियां एक-एक करके दिखाने लगे। मणिराम तो निस्तब्ध थे ही उदयप्रकाश की भी वही अवस्था थी। जो मणिराम विरजानन्द का नाम तुच्छता के साथ लेते थे, उसी मणिराम ने विरजानन्द की अगाध शास्त्रदर्शिता के सामने माथा नवाकर और सौ बार क्षमा मांग कर विदा ली।

दिल्ली का हरिश्चन्द्र जितना अपने पाण्डित्य के लिए प्रसिद्ध था, उससे भी अधिक धूर्त्तता के लिए प्रसिद्ध था। उसके धूर्त्ततामिश्रित पाण्डित्य ने उसे अनेक राजसभा और पाण्डित्य समाज से सुपरिचित करा दिया था। हरिश्चन्द्र की धूर्त्तता के विषय में एक कथा सुनी जाती है कि अपने पीछे छत्रचामरधारी सेवक को रख कर और हस्ती पर चढ़कर वह एक बार जयपुर के राजपथ पर घूम रहा था। जब इस घटना की चर्चा जयपुरपति रामसिंह के कानों में पहुँची तो उन्होंने उसे बुला कर पूछा कि आप कौन हैं? हरिश्चन्द्र ने अम्लान-वदन हो कर उत्तर दिया कि मैं भी एक राजा हूँ। अस्तु, यही हरिश्चन्द्र एक दिन दण्डी जी की पाठशाला में चुपचाप आकर और छात्रों के साथ मिलकर प्रच्छन्न भाव से बैठ गया। उस समय विरजानन्द पढ़ने में लगे हुए थे। पढ़ने के विषय से सम्पृक्त किसी एक बात को लेकर दण्डी जी की छात्रों के साथ एक आलोचना उपस्थित हो गई। तब यह प्रच्छन्नभावधारी हरिश्चन्द्र बोल उठा कि इसका अर्थ

---

*इससे पहले हमने यह बात नहीं सुनी थी कि स्वामी विरजानन्द फारसी जानते थे परन्तु मणिराम और विरजानन्द संक्रान्त उपर्युक्त घटना को जिन्होंने वर्णन किया है, हम उनकी बात का भी अविश्वास नहीं कर सकते। वे पण्डित मुकुन्द देव मथुरा जिला स्कूल के प्रधान पण्डित विशेषत: दण्डी जी के अन्यतम शिष्य स्वर्गीय पण्डित उदयप्रकाश के पुत्र हैं।

इस प्रकार नहीं है बल्कि इस प्रकार है। यह सुनकर दण्डी जी बोले कि तुम कौन हो ? हरिश्चन्द्र बोला कि मैं एक विद्यार्थी हूँ। दण्डी जी ने कहा कि तुम कभी विद्यार्थी नहीं हो सकते, सच सच बोलो कि तुम कौन हो ? हरिश्चन्द्र के लिए उस समय मानों कालयोग उपस्थित था। किन्तु फिर भी उसने यही कहा कि मैं विद्यार्थी हूं। तब तो दण्डी जी कुछ क्रुद्ध होकर बोले "तुम कभी विद्यार्थी नहीं हो—तुम दिल्ली के हरिश्चन्द्र हो"—यह कह कर तिरस्कार के साथ हरिश्चन्द्र से पूछा "तुम जो यह कहते हो कि इस का यह अर्थ नहीं है, बल्कि यह है इसे सिद्ध करो"—हरिश्चन्द्र उस समय अधोवदन और लज्जा और घृणा से अभिभूत था और इसी चिन्ता में लगा हुआ था कि किसी प्रकार यहां से भागूं, सुतराम जल्दी-जल्दी वह पाठशाला से चला गया ! दोनों आँखों के न होते हुए भी दण्डी जी ने किस प्रकार से जान लिया कि यह प्रच्छन्नभावधारी मनुष्य विद्यार्थी नहीं है बल्कि दिल्ली का हरिश्चन्द्र है। पाठक ! क्या आप इसे सोच कर देखेंगे ?

—०—

परिशिष्ट (१)

सार्वभौम-सभा-विवरणपत्र

अनन्तश्रीः

सार्वभौमविजेषीष्ठ रामसिंहो महायशाः ।
जयसंज्ञे पुरेऽभीक्ष्णं सेव्यमानो नरेश्वरैः ॥१॥
सार्वभौमसभा येन प्रतिज्ञाता मयान्तिके ।
सर्वभूपुस्तकभ्रंशनिवृत्यै तां करिष्यति ॥२॥
द्वैप्यास्तेजस्विनो धीरा यस्य मित्राणि सर्वशः ।
राजकं शासनं तस्य शिरसाऽन्ये वहन्ति वै ॥३॥
समर्थोऽहं न संदेहः सभायां राजसन्निधौ ।
मदुक्तत्यतिक्रमं कर्तुं कश्चिन्न विवदिष्यते ॥४॥
सुपन्थानं समाश्रित्य वाचं सुब्रुवतो मम ।
सत्यं सत्यं वदिष्यन्ति सार्वभौमसभासदः ॥५॥
एतन्निश्चित्य कुर्वीत सार्वभौमसभां नृपः ।
सत्यं ब्रवे जगत्तस्य कीर्त्या श्वेतीभविष्यति ॥६॥

भाषा—सार्वभौम कौन कि सर्वभूमि का ईश्वर—सर्वभूमि के राजा जिसको नजराना देते हैं, इस तरह के सार्वभौम अनेक राजा भये हैं, परन्तु जो सर्वभूमि का उपकार करके सार्वभौम है वो महायशाः सार्वभौम है। युधिष्ठिरादिकन के रूबरू पुस्तकभ्रंश नहीं था यानी पुस्तकमर्यादा बन रही थी, अब तो पुस्तक-मर्यादा सार्वभौम नाम रामसिंह नरदेव की करी होयगी यासे युधिष्ठरादिकन से भी सिवाय उनका यश होगा धर्ममूल पुस्तक की स्थिति के वास्ते सार्वभौम सभा करने की प्रतिज्ञा है मेरे रूबरू नरदेव ने करी है सो भरोसा है सार्वभौम सभा करेंगे ॥ १—२ ॥ मित्रवान् राजा से हो सकती है समर्थ मित्र जिसके होंय उस राजा का शासन सर्वभूमि के राजा सिर करके धारण करेंगे सो रामसिंह सार्वभौम नरदेव के मित्र समर्थ हैं, सर्वभूमि में जिनकी प्रवृत्ति और धीर समझवार सब राजा

जिनको बात का प्रमाण करें द्वीपान्तरवासी साहबलोग रामसिंह सार्वभौम महाराज के मित्र हो हैं। पुस्तक का पुस्तकान्तर नहीं बनता यह बात उनकी समझ में अच्छी तरह से आ सकता है, सार्वभौम सभा में पुस्तकमर्यादा जैसी ठहरेगी सोई हुक्म सर्वभूमि में जारी होगा ॥३॥ यह संदेह न किया (जावे) कि इस बात के वास्ते दिन महोना वर्ष लगेगा, क्योंकि सभा में राजा के रूबरू हम समर्थ हैं जो हम चाहते हैं वह बात सब घण्टे भर के भीतर कबूल हो जाएगी, विवाद करने वाला कोई नहीं ॥ ४ ॥ क्योंकि मार्ग ही हमने वह लिया है जिसको कोई न रोक सकेगा नियम ठोक है ॥ ५ ॥ यहां निश्चय करके सार्वभौम सभा करै महाराज की कीर्ति करके जगत् श्वेत होवेगा ॥ ६ ॥ यह बात समझनी चाहिए कि पुस्तकोत्थ में धर्म का नाश है, क्योंकि धर्म का वक्ता जीवित पुरुष होता है, उसका पुस्तकोत्थ होने से फिर उसका प्रमाण ठहर जाता है। पुस्तकस्थिति में धर्म की स्थिति है। पुस्तकोत्थ क्या है कि उनका नाम लेकर पुस्तक का पुस्तकान्तर बनाना। पुस्तकस्थ वृत्तान्त को पौस्तक कहते हैं, सो अध्येता को बचवा करके समझा दिया जाता है कि और जो केवल श्रोता ही होय तो उसको चिट्ठी की तरह सुना दिया जाता है पौस्तक लिखा नहीं जाता है मूर्ख लोग पुस्तक लिख करके एक-एक पुस्तक के असंख्यात बेशुमार टीका पुस्तक बनाते हैं। धर्म का नाशक पुस्तकोत्थ यह होता है। पुस्तकस्थिति क्या है कि जो पुस्तक का सनातन बना रहना है पौस्तक उसको गुरु से समझ लेना है अपनी शक्ति होय तो आप समझ लेना, पुस्तक लिखा जाता है पौस्तक नहीं लिखा जाता। प्रथम गुरु सद्गुरु पुस्तकस्थ है, दूसरा गुरु बाहर है जो जीवता होय मुख से बोले। इस बात का नाम पुस्तकस्थिति है इस में धर्म की स्थिति है, क्योंकि पुस्तक वही है जिसमें देख करके बात कही होय। उस पुरुष का सब किसी को प्रमाण करना वाजिब होगा।

अधीतौ शब्दशास्त्रस्य दण्डिनो गुरुरस्ति कः।
इतिपृच्छन्तमाचष्टे सोपपत्तिसुहृद्वचः ॥

कोई पूछता है शब्द-शास्त्र के अध्ययन में दण्डी का गुरु कौन है? दण्डी का सुहृद् जवाब देता है—

ऋषिः शब्दत्वमापद्य वर्त्तते निजपुस्तके।
अपेक्ष्य वेदितुर्वाक्यन्तमेवाविशति स्वयम् ॥

भाषा—गुरु दो होते हैं, बाह्य गुरु दण्डी का नहीं, पुस्तकस्थ सद्गुरु तो है। जिस ऋषि ने पुस्तक बनाया वह ऋषि शब्द रूप होके अपने बनाए पुस्तक में वर्त्तमान है, जो विद्वान् हो यानी समझवार होय और वाग्मी होय यानी प्रगल्भवक्ता होय उसकी वाक् ऋषिवाक् है। इस वास्ते कि उसमें ऋषि का आवेश हो जाता है। तभी वह पुरुष प्रमाण होता है उसका सद्गुरु पुस्तक में है। दण्डी का सद्गुरु पुस्तकस्थ है ॥

ऋषिर्वै पौस्तकः शब्दः पुस्तकं तत्कृतं यदि ।
शब्दप्रमाणकाः शिष्टा विप्रास्तेनर्षयः स्वयम् ॥

जो शब्द ऋषि ने पुस्तक में लिखा वह शब्द ऋषि है, उस पुस्तक करके ब्राह्मण लोग शब्दप्रमाण का शिष्ट आप ही ऋषि होते हैं। पुस्तक अगर ऋषि का किया होय तो तब यह बात है और जो ऋषि का नाम ले करके अन्य किसी ने पुस्तक बनाया, यथा व्यास ऋषि का नाम ले करके बोपदेव ने भागवत बनाया मुग्धबोध भागवत के वास्ते व्याकरण बना दिया। या तरह के जो पुस्तक होते हैं तिन में जो शब्द है सो ऋषि नहीं होता जितना शब्द ऋषि ने पुस्तक में लिखा है उसी को ले करके, ब्राह्मण लोग शब्दप्रमाण होते हैं, वृत्ति बना करके पुस्तक में लिखने वाला पामर होता है, इस बात के वास्ते आज श्लोक लिखते हैं।

अध्येता वेदितव्या या सूत्राणां सूत्रपुस्तके ।
कथं लेख्या भवेद् वृत्तिः सा तत्रैव विचार्यते ॥

अपर आह—

लेखः शास्त्रेण कार्यते लिखतैर्वोपलभ्यते ।
प्रष्टव्यो गुरुरिष्यते एवमप्यस्ति क्वचित् क्वचित् ॥

सूत्रन की वृत्ति सूत्रपुस्तक में हो बन जाती है, अध्येता समझ लेता है अध्यापक समझा देता है। अष्टाध्यायी का दूसरा पुस्तक नहीं बनता और वृत्ति बनाकर लेख का करने शास्त्र में निषेध कियो है तीसरी बात यह है कि वृत्ति लिखी हुई ज्यों की त्यों दीख जाती है चौथी बात यह है कि आप न समझ सकें तो गुरु से पूछें लिखने का कुछ काम नहीं पांचवीं यह बात है कि बहुत सूत्राध्ययन पुण्य है उनकी विभक्ति मात्र समझ लीनी जाती है विशेष अर्थ उन सूत्रन का गुरु भी नहीं समझा सकते हैं।

अध्ययनं तदेवेह ज्ञात्वा वृत्तिमुदाहरेत् ।
ऋषीणां पुस्तकेष्वेव गन्धनं हि ततोऽन्यथा ॥

अध्ययन इसी का नाम है कि पुस्तक में वृत्ति समझ करके सलेट में उदाहरण समझ ले। लिखा देखना होय तो ऋषिन के पुस्तक में देख ले। वृत्ति उदाहरण लिख लिख के दूसरा पस्तक करे तो दस्तन्दाजी होती है। इस बात का नाम शास्त्र में गन्धन लिखा है॥

संस्कृतवाग्देवभाषा तत्संस्कारः शब्दशास्त्रेण ।

मनुष्यन का व्यवहार मनुष्यभाषा बिना नहीं होता है। इस वास्ते शब्दशास्त्र मनुष्यभाषा में ही पढ़ाया जाना है। देश देश के मनुष्यन की अपनी भाषा जुदी-२

होती है जिन मनुष्यन का परस्पर व्यवहार है, उनको आपस में भाषा सीखनी पड़ती है उस देश में जाय रहे तो सीख ले अथवा उस देशभाषा की किताव उस्ताद से पढ़ले उस्ताद को अखतियार है कि चाहे तो अपनी बनाई किताब पढ़ावे चाहे तो और किसी उस्ताद की बनाइ किताब पढ़ावे। मनुष्यभाषा में बनाने की किताब का उस्ताद कू अखतियार है यथा देशान्तर के मनुष्यन की आपस में आमदरफ्त है तथा देवन की और मनुष्यन की आपस में आमदरफ्त नहीं है। देवन की भाषा का कायदा देव ही जानते हैं और तपोबल से जो मनुष्य ऋषि हुए हैं वे भी देवभाषा का कायदा जानते हैं देवभाषा के कायदे का मनुष्य को पुस्तक बनाने में अधिकार नहीं। शब्दशास्त्र के सूत्र लग करके मनुष्यभाषा की देवभाषा बन जाती है।

द्विरनुक्रम्याधिक्तं सूत्रं वार्तिकं भाष्यं गण
इत्येवं शब्दशास्त्रमाचार्यैः कृतपुस्तके वर्त्तते।

दो अनुक्रम शब्दशास्त्र के होते हैं। गणसूत्र और वृत्तिसूत्र यह प्रथमानुक्रम है और वार्तिक सूत्र और भाष्य द्वितीयानुक्रम है। भाष्य सहित जो त्रिसूत्री है उसको ब्राह्मग धारण करते हैं वही पुस्तक भूलोक व्याकरण है।

पुस्तकस्थस्यैव शास्त्रत्वाच्छास्त्रस्यारम्भपरिसमाप्ती
अपि सम्भवतः, पुस्तकसमाप्तावेव गुरुरपि सम्भवति।

जितना विद्या शासन पुस्तक में लिखना बाजवी है, सो सब लिखा जाय पुस्तक की संख्या हो जाय। उस विद्या में दूसरे के पुस्तक की आकांक्षा न रहे, तब वह पुस्तक शास्त्र होता है। उस पुस्तक को पढ़ करके पुरुष शास्त्र का पारदृश्या होता है, जो शास्त्र का पारदृश्या है सोई गुरु हो सकता है। जब सेयह चाल चली कि पुस्तक की व्याख्या के वास्ते दूसरा पुस्तक होता है। उसका फिर और होता है तब से उस मूल पुरुष का प्रमाण ही न रहा, कोई किसी का गुरु न रहा जब यह बात इस तरह भई तब देवभाषा के पढ़ने वाले गुरुरहित अशिष्ट नालायक हुए।

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना, नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां, महाजनो येन गतः स पन्था॥

गुरु पुस्तकस्थ जो पुरुष है वो महाजन है, धर्मतत्व के प्रेक्षावान् के हृदय में और गुरु पुस्तक में फर्क न हुआ चाहिए, चाहे जीवित पुरुष पुस्तक का वृत्तान्त पुस्तक में समझा देवे सो गुरु है उसका वचन धर्म में प्रमाण है तर्क से धर्म का निर्णय नहीं होता क्योंकि तर्क अप्रतिष्ठ है, तर्क के ऊपर और तर्क हो जाता है। तर्क नाम दलील का होता है श्रोता को समझ श्रुति होती है इससे श्रुति का भी ठिकाना नहीं मनन करने वाला मुनि है सो मनन करने वाले अनेक हैं, किस किस का मत धर्म मान लिया जावे, चलने वाला तो एक ही रस्ते चल सकता है जिससे पुस्तक का भेद न हुआ चाहिए॥ सप्त द्वीपन के मनुष्य। का शब्दशास्त्र तो एक ही हैं और विलायतन में भी तपोबल से मनुष्य पगंबर का दर्जा पाते हैं। उनके मत के जो

मनुष्य हैं वे भी अपने पयंबर की किताब में जो शब्द लिखा है, उसी का प्रमाण करते हैं दूसरे का लिखा प्रमाण नहीं करते हैं, एक पुस्तक के अनेक पुस्तक बना करके अनेक संप्रदाय अपनी प्रतिष्ठा के वास्ते आदमी चलाते हैं तो यह पन्था नहीं, एक पुस्तक में महाराज दूसरा नहीं होता है। जो विद्वान् पुस्तक का वृत्तान्त पुस्तका में समझा देवे, वह पुस्तकस्थ आचार्य के साथ एकीभूत है, उस जीवित पुरुष का वचन पन्थ है वही महाजन है ॥

यत्रर्षौ यस्य श्रद्धा स ऋषिस्तस्य महाजनः। तदापि पुस्तकं तस्य धर्मपथः पुस्तके वर्त्तते दीपितेन पथा स ऋषिर्गन्तव्यंगतः मत्प्रमाणका अनेन गच्छन्त्विति वेदवेदाङ्गधर्मशास्त्रपुराणादीनि ऋषिभिः पुस्तकेषु निवेशितानि शब्दशास्त्रस्योदाहरणभूतानि तत्सहायं शब्दशास्त्रपुस्तकस्थं तेषाम्मुख्याङ्गभूतं तेषु प्रवर्त्तते जाग्रति शब्दशास्त्रपुस्तके सर्वर्षिपुस्तकानि न ह्रसन्ति न वर्द्धन्ते एवं शब्दशास्त्रपुस्तकेनैर्वर्षिपुस्तकानां रक्षा भवति। अध्यापका यथाबुद्धि शब्दज्ञानपूर्वकमध्यापयन्त्येव न पुनः पुस्तकं कुर्वन्ति देवा दंवादसत्स्वध्यापकेषु सर्वेषां पुस्तकानां व्याख्यानभूते शब्दशास्त्रपुस्तके स्वपित्येष भ्रंशः प्रवर्त्तते कर्तॄणां वेदितॄणां पुस्तकानां च प्रामाण्यं नश्यति विद्वर्षिर्विद्यापुतकं समाप्य ब्रह्मणि लीनो विद्यारूपांशोऽस्य पुस्तके वर्त्तमानजीवन्तं वेदितारमपेक्षते यः पृष्टो विदित्वा वदेदपृष्टो विरमेत् पुनः पृष्टो यः शब्दज्ञान पूर्वकं पुनः ब्रूयात् पुस्तकान्तरं नापेक्षते हि पुस्तक एवंरूपता संभवति वर्त्तन्ते चेदानीं वेदितारोऽध्यापका अतो न पुस्तकस्य पुस्तकान्तरापेक्षाऽस्ति तस्मात् पुस्तकान्तराणां कर्त्तारो ब्रह्महणो न वर्त्तते तेषां प्रामाण्यम्।

जिस ऋषि में जिसकी श्रद्धा होय वो ऋषि उसका महाजन है महाजन सब गुरुन का परम गुरु है उस ऋषि का पुस्तक धर्म मार्ग है। पुस्तक में दिखलाया जो पन्था उसी करके प्राप्तव्य वस्तु कू ऋषि प्राप्त हुआ है लिखना इसी वास्ते है जो लोग मुझको प्रमाण मानते हैं उनका भी यही रास्ता है। वेदादिकन की पुस्तक में लिखना इसो वास्ते है जो ऋषि ने लिख दिया सो लिख दिया फिर लेख किसी कू न करना वही वेदादिक शब्दशास्त्र के उदाहरण हैं अपने बनाए सुध्युपास्यः कुध्युपास्यः उदाहरण नहीं होते हैं। यदि लिखा हुआ उदाहरण शब्दशास्त्र का समझना होय तो वेद पुराण धर्मशास्त्र इत्यादिकन में ही समझना। उन वेदादिकन का सहायक शब्दशास्त्र आदमी के बनाये पुस्तकन में नहीं होता है जब तक शब्दशास्त्र जगे है

तब तक सब ऋषिन के पुस्तकन का वृद्धि-बढ़ना ह्रास-घटना नहीं होता है या तरह पुस्तकन की रक्षा होती हैं पुस्तकन का पौस्तक जबानी होता है, लिखा नहीं जाता। पढ़ाने वाले जैसी उनकी बुद्धि है तैसे देशभाषा के शब्दन में लिखा के पढ़ाते हैं पुस्तक नहीं लिखाते यदि इत्तिफ़ाक़ दैवयोग से कभी पढ़ाने वाले न रहें, तब सब पुस्तकन का व्याख्यानरूप शब्दशास्त्र पुस्तक हो जाता है, तब यह भ्रंश अन्याय ग़दर होता है क्या ग़दर होता है कि पुस्तक के करने वाले का और समझने वाले का और पुस्तक का भी प्रामाण्य नाश हो जाता है और जो पुस्तक के ऊपर पुस्तक न बने तो तीनों का प्रामाण्य बना रहता है क्योंकि विद्या का ऋषि विद्यापुस्तक को समाप्त करके यानी पुस्तकान्तर की अपेक्षारहित करके ब्रह्म में लीन हुआ जो ऋषि का विद्यारूप अंश है सो पुस्तक में वर्तमान है जीवते विद्वान् की इच्छा करै है जो पूछै के ऊपर वोले जब तलक वह समझे तब तलक चुप रहै फिर पूछै तो शब्द भाषा में समझावे। पढ़ाने के वास्ते दूसरा पुस्तक नहीं चाहिए अब तो शब्दशास्त्र के ज्ञाता पढ़ाने वाले मौजूद हैं अन्याय ग़दर नहीं मचना चाहिए एक पुस्तक का दूसरा तीसरा चौथा पुस्तक बनाने वाले ब्रह्महत्या करते हैं, उन पापीन का क्या प्रमाण है।

अध्येतुं वेदितुं यत्राधिकारो न ततोऽन्यथा।
तत्रैव पस्तकं कृत्वा ब्रह्महा न कथं भवेत् ॥

गुरु से पढ़ लेना गुरु न मिले और अपने में समझने की शक्ति होय तो आप समझ लेना जो पुस्तकस्थ वस्तु आप समझ लई, उसे दूसरा यदि समझा चाहे तो उस को उसी पुस्तक में समझा देना ऋषिपुस्तक में मनुष्य का इतना ही अधिकार है। जो ऋषिपुस्तक के ऊपर अपना पुस्तक बनाता है वह दाम्भिक है ऋषिपुस्तक का अर्थ कुछ नहीं समझा, ऋषिपुस्तक का नाम मूल पुस्तक धर है अपने बनाये पुस्तक का नाम टीका पुस्तक धर है। यह व्यवहार शास्त्र में नहीं होना चाहिए टीका तो मस्तक पै लगे है अपनी उच्छिष्ट अशुद्ध वाक्य ऋषि के मस्तक पै लगावे है याते ब्रह्महा चाण्डाल ऐसी हरकत करने वाला होता है, शब्दशास्त्र के गदर में या रहे के आदमी के चलाये अनेक संप्रदाय जारी हो गए हैं।।

वर्षाणां द्वे सहस्रे ह्यावरतः समयोगतः।
प्रस्वापे शब्दशास्त्रस्य पुस्तकोत्थस्ततोऽभवत् ॥

कमती से कमती दो हज़ार वर्ष काल व्यतीत हुआ शब्दशास्त्र के स्वापनिद्रा में इस कारण से पुस्तकोत्थ हो गया पुस्तकन का ठिकाना न रहा कोई तो पुस्तकन का सार निकाल करके छोटा पुस्तक बनावै है कोई एक गुण का शतगुण करै है। कोई झूठे सच्चे अनेक पुस्तकन को देख करके कल्पवृक्ष पुस्तक बनावै है, जो कुछ काग़ज में चढ़ा दिया झूठ सच सो सब शास्त्र ठहर जाता है, इसमें दृष्टान्त है कि यमुना नर्मदा सदा जारी रहेगी गंगा जी को उमर तो बत्तीस वर्ष बाकी रही ऐसा तिथि पत्रन में लिखा जाता है गोपालसहस्रनाम बनाया उसमें लिखा "गोपाल

कामिनी जारो चौर जार शिखामणिः"। बनाने वाला धूर्त्त प्रत्यक्ष गाली दे है और बनिया लोग ब्राह्मण से त्राही का पुरश्चरण करवावें हैं चाही तरह का महाभारत से विरुद्ध व्याकरण में अशुद्ध भागवत नाम पुस्तक बोपदेव ने बनाया उसमें कथा लिखी कि कन्यान को नग्न करके कन्यान की योनि भगवान् ने देखी देख करके प्रसन्न भये उस कथा के सुनने वाले लोगन ने चोरहरण घाट नाम करके तीर्थ मुकरर कर लिया ये सब कथा झूठी है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्या पार्थ सर्वशः ।।

यह गीता में लिखा है।

अधर्महेतुर्दुर्वारो नश्येदपि क्षणादयम्
उद्बोधं शब्दशास्त्रस्य श्रृणुयुचेन्नराधिपाः ।।

अधर्म का कारण पुस्तकोत्थ सर्वभूमि में चल गवा हटना अब इसका मुश्किल है सर्वभूमि के राजा शब्दशास्त्र का उद्बोध सुन लें तो अब हट भी जाय उद्बोध नाम जगने का है प्रस्वाप नाम सोने का है जब शब्दशास्त्र के पढ़ानेवाला सर्वभूमि में कोई एक भी नहीं रहता है तब मिथ्या पण्डित लोग सनातन पुस्तकन की दुर्दशा करते हैं, अपने बनाये पुस्तक ऋषिपुस्तक में मिला देते हैं। यथा सूने घर में कुत्ता खोदके बैठता है शब्दशास्त्र के प्रस्वाप में यही दुर्दशा पुस्तकन की हो जाती है यह बात राजान् कू मालूम भये पर पुस्तकोत्थ नहीं रह सकता।

विवदेत न कोऽपीह पुस्तकोत्थनिवारिणे ।
दण्डिनोऽग्रे सभामध्ये प्रभौ श्रृण्वत्यनाकुले ।।

जो पुस्तकोत्थ का मुद्दई है उसके अगाड़ी सभा के बीच में रूबकारी राजा करै तब विवाद करने वाला कोई नहीं ठहर सकता, मिथ्या पुस्तक को त्याग करना सब लोग कबूल कर लेंगे।

परिशिष्ट (२)

(लेखक का पत्र व्यवहार)

आर्य समाज मथुरा,
४-६-१९१३ ई०।

१—आपसे जो उस दिन वार्तालाप हुआ उससे विदित हुआ कि आप १९१७ संवत् में दण्डी जी की पाठशाला में प्रविष्ट हुए और आपने देखा कि उस समय स्वामी दयानन्द पढ़ते थे इस से सिद्ध होता है कि स्वामी दयानन्द आप से पूर्व अर्थात् १९१७ संवत् से आगे विरजानन्द के पास पढ़ते थे।

२—आपकी बात से यह भी सूचित हुआ कि कृष्ण शास्त्री व लक्ष्मण ज्योतिषी जी के साथ दण्डी जी का शास्त्रार्थ १९१९ वा १९२० संवत् में हुआ।

३—यह बात प्रसिद्ध है कि कृष्ण शास्त्री के साथ शास्त्रार्थ के पीछे ही दण्डी जी की दृष्टि अष्टाध्यायी के ऊपर आ गई और कुछ रोज पीछे अष्टाध्यायी को पढ़ाना शुरू किया। इससे सिद्ध होता है कि दण्डी जी ने १९१९ व १९२० संवत् से ही अष्टाध्यायी के पढ़ने पढ़ाने को अपनी पाठशाला में प्रवृत्त किया। जब ऐसा है तब यह बात किस तरह सम्भवपर होगी कि स्वामी दयानन्द ने १९१७ संवत् के पूर्व अष्टाध्यायी का पाठ विरजानन्द के पास आरम्भ किया।

माननीय पंडितवर

श्रीमान् बनवारीलाल चौबेजी आप कृपा करके मेरे उपरोक्त प्रश्न का उत्तर देके कृतार्थ करें।

भवदीय—

देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय

ओ३म्

नमस्ते! आर्यमण्डलचक्रचूड़ामणि भूषायमाण श्री देवेन्द्रनाथ मुख्योपाध्यायेषु सविनयं निवेद्यते। देखिये महाराज जी आपके मन में सन्देह है सो आपको नहीं करना चाहिए क्योंकि श्री १०८ स्वामी जी महाराज दण्डी जी महाराज विरजानन्द जी स्वामी जी सामान्य रीति से तो जब से आप मधुपुरी में पधारे थे तब से ही अष्टाध्यायी को पढ़ाते थे और कहते थे कि असली व्याकरण का ग्रन्थ ये ही है सो ये ग्रन्थ लुप्तप्राय हो गया है इसकी प्रवृत्ति होनी अवश्य उचित है, परन्तु

तब तक कौमुदी का भी पठन पाठन था गंगदत्त रंगदत्त चौबे और गोपीनाथ नाम के भट्ट ये सिद्धांतकौमुदी पढ़ते थे और गुरु जी महाराज अच्छी तरह पढ़ाते थे कुछ अत्यन्त विरोध कौमुदी से नहीं था फिर उक्त १९२० संवत् से ही पूरा-पूरा आग्रह श्री १०८ महाराज का परमाग्रह अष्टाध्यायी पर हुआ तब फिर मेरे कहे में दोष नहीं समझना किमधिकेन-सो निश्चय तब हुआ है कि उक्त २० संवत् के पूर्व में, रात्रि में ५ पत्र श्री महाभाष्य के प्रतिदिन दो घण्टा में श्री १०८ महाराज को मैं कण्ठ कराता तथा जब समग्र भाष्य आपने कंठ कर लिया तिस पीछे मुख्य करके अष्टाध्यायी पढ़ाने का आग्रह हुआ और कहने लगे कि अब हम वैय्याकरण सार्वभौम हैं हमारे सम्मुख कोई नहीं आ सकता है—अब तक हम बालक थे अब हम प्रबुद्ध हुए तब स्वामी दयानन्द जी को आग्रह से अष्टाध्यायी पढ़ाई इससे सब अविरुद्ध है इति शर्म् ।

भवदनुकम्पनीय वनमाली शर्म्मा नमस्ते ओ३म्

॥ ओ३म् ॥

सिद्धश्री विज्ञातिविज्ञ विद्वज्जनभूषण श्री पं० वनमाली जी शर्मणे नमो नमः ।

अपरञ्च आपके साथ जो मौखिक वार्त्तालाप हुआ उससे तथा आपके पत्र से विदित होता है कि संवत् १९२० वि० से श्री १०८ विरजानन्द जी महाराज ने अष्टाध्यायी के पठन पाठन के प्रचार का आग्रहपूर्वक आरम्भ किया था ।

अन्यच्च यह भी प्रसिद्ध वार्ता है कि उक्त स्वामी जी महाराज के साथ जो लक्ष्मण शास्त्री का शास्त्रार्थ हुआ था तत्पश्चात् स्वामी जी ने अष्टाध्यायी का आग्रह पूर्वक पढ़ाना आरम्भ किया था ।

उपरलिखित शास्त्रार्थ में सेठ राधाकृष्ण जी भी विद्यमान ही थे यह भी सत्य बात है ।

परन्तु सेठ राधाकृष्ण जी ने संवत् १९१६ विक्रमी में इस असार संसार को त्याग दिया था तब यह बात किस प्रकार सिद्ध हो सकती है कि शास्त्रार्थ का संवत् १९२० था क्योंकि तब तो राधाकृष्ण जी को मरे हुए चार वर्ष व्यतीत हो चुके थे । परन्तु १९१६ में अथवा उससे पूर्व शास्त्रार्थ का होना निर्णीत होता है न कि १९२० अतएव प्रार्थना है कि कृपया इस विषय में पूर्ण प्रकार से खोज लगा कर निश्चित उत्तर दीजिए ।

भवत्कृपाभिलाषी—

ब्रह्मानन्द सरस्वती

बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्यायजी की ओर से

॥ ओ३म् ॥

नमस्ते बाबू जी साहब श्री महेन्द्रचन्द्रजी* योग्यमिदम् महाराजजी ये वृत्त अति विप्रकृष्ट है ये तो माकू अवश्य ही स्मरण है कि मैं अवश्य महाराज के साथ शास्त्रार्थ में साथ था परन्तु राधाकृष्णजी विद्यमान थे या नहीं थे यदि सेठ राधाकृष्णजो न होंगे तो गोविन्ददास जी होंगे राधाकृष्णजी का आप विद्यमान होना न लिखें सामान्य में सेठजी विद्यमान थे नाम पूर्वक लिखें तो गोविन्ददास जी का नाम लक्ष्मोचन्दजी का नाम लिखें और पण्ड्याजी मूड़मुड़ियाची तथा मिश्रबलदेवमिश्रजी की भी महजूदगी लिखें।

किमधिकेन शम्

---

*मालूम होता है कि पं० वनमाली शर्मा ने भूल से देवेन्द्रनाथ जी के स्थान में महेन्द्र चन्द्र लिख दिया है और पूर्वपत्र में श्री देवेन्द्रनाथ जी ने भूल से पं० वनमाली के स्थान में वनवारीलाल लिख दिया प्रतीत होता है—अनुवादकर्त्ता।

परिशिष्ट (३)

पादटिप्पणियां

(२) बाल्य जीवन

१. पं० निरंजन देव के अनुसंधान से ज्ञात हुआ है कि स्वामी विरजानन्द का पूर्व आश्रम का नाम ब्रजलाल था। (पृष्ठ—१६)

२. स्वामी विरजानन्द के अग्रज भ्राता का नाम धर्मचन्द था। (पृष्ठ—१७)

(३) संन्यास ग्रहण और पठन-पाठन

१. स्वामी दयानन्द के दीक्षा गुरु का नाम देवेन्द्र बाबू ने पूर्णाश्रम स्वामी लिखा है। किन्तु प्रो. भीमसेन शास्त्री के अनुसार दण्डी जी के दीक्षा गुरु हरियाणा प्रान्तवासी गौड़ ब्राह्मण वंशोद्भव स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती थे। यही नाम उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि 'सरस्वती' संज्ञक गुरु के ही शिष्य का नाम विरजानन्द सरस्वती रक्खा जाना समीचीन है। (पृष्ठ—२०)

२. सम्भवतः कोई पं० गौरीशंकर विरजानन्द के विद्या गुरु रहे होंगे। (पृष्ठ—२०)

३. यहां 'धूर्त' का प्रयोग अत्यधिक चतुर और विचक्षण के लिए हुआ है न कि कुत्सा भाव से। (पृष्ठ—२१)

(४) सोरों वास

१ कालान्तर में पं० अंगद शास्त्री राजकीय पाठशाला पीलीभीत में संस्कृत एवं हिन्दी के अध्यापक नियुक्त हुए। जब स्वामी दयानन्द का सितम्बर १८७९ में शाहजहाँपुर आगमन हुआ तो उक्त पण्डित जी ने स्वामी जी से शास्त्रार्थ करने का विचार किया और एक पत्र में यह उल्लेख किया कि वे भी स्वामी विरजानन्द के शिष्य होने के कारण स्वामी दयानन्द के ज्येष्ठ सतीर्थ्य हैं। स्वामी दयानन्द ने इस के उत्तर में अपने पत्र में लिखा—"हां, मथुरा में भी स्वामी विरजानन्द जी के पास बहुत विद्यार्थी जाते थे, आप भी कभी गये होंगे। परन्तु जो आप स्वामी जी के शिष्य होते तो उनके उपदेश के विरुद्ध आचरण क्यों करते ? और ज्येष्ठ कनिष्ठ तो उत्तम गुण कर्म और नीच गुण कर्मों से ही होते हैं।" (पृष्ठ—२४)

(५) अलवर वास

१. 'शब्दबोध' की रचना सं. १८८९ वि. में हुई। इसका हस्तलेख अलवर के राजकोष म्यूज़ियम में सं ३३३४ पर सुरक्षित है। ग्रन्थान्त की पुष्पिका में

स्वामी विरजानन्द ने स्वयं को 'गौरीशंकर शिष्य' कह कर उल्लिखित किया है। "इति श्रीमत् परिहंस परिव्राजकाचार्य श्री गौरीशंकर शिष्य श्री विरजानन्द कृत शब्द बोधो नाम व्याकरण संक्षेपसंग्रह:"। (पृष्ठ—२९)

(६) अलवर त्याग और पुन: सोरों वास

१. प्रो. भीमसेन शास्त्री के अनुसार दण्डी जी का अलवर निवास सं० १८८९ वि. से १८९२ वि. पर्यन्त रहा। (पृष्ठ—३६)

२. महाराजा बलवन्त सिंह भरतपुर के प्रतापी राजा सूरजमल वंशधर थे। दण्डी जी का भरतपुर निवास लगभग ६ मास पर्यन्त रहा। विदाई के समय राजा ने उन्हें चार सौ रुपये तथा एक दुशाला भेंट किया। (पृष्ठ—३६)

(७) मथुरा में पाठशला का स्थापन

१. वासुदेव कृष्ण ने कंस को मारने के पश्चात् जिस स्थान पर बैठ कर अपने श्रम का निवारण किया, वहां कालान्तर में गतश्रम नारायण के नाम से मन्दिर की स्थापना हुई। यह मन्दिर अवागढ़ नरेश ने बनवाया था। (पृष्ठ—३७)

२. दण्डीजी की पाठशाला का यह भवन आज आर्य समाज के अधिकार में है और इसे एक स्मारक का रूप दिया जा चुका है। (पृष्ठ —३८)

३. रंगाचारी या रंगाचार्य (१८०९-१८७४) मूलत: तमिलनाडु के निवासी थे। वे सेठ राधाकृष्ण द्वारा निर्मित प्रसिद्ध रंग जी के मन्दिर के अधिष्ठाता तथा रामानुजीय श्री वैष्णव सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य थे। (पृष्ठ—३९)

४. पूरा नाम एफ. एस. ग्राऊस—ये इण्डियन सिविल सर्विस के अधिकारी तथा ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के स्नातक थे। १८७६ में ये मथुरा के कलेक्टर थे। मथुरा का वृत्तान्त (Mathura : A District Memoir) लिखने के अतिरिक्त इन्होंने गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस का अंग्रेज़ी में अनुवाद भी किया था। (पृष्ठ—४१ का फुटनोट)

५. चौबे रंगदत्त तथा गंगादत्त अच्छे वैयाकरण थे। उन्होंने काशी में रह कर पर्याप्त काल तक अध्ययन किया था। कालान्तर में मथुरा आकर इन्होंने स्वामी विरजानन्द से अध्ययन किया। पं. गंगादत्त चौबे स्वामी दयानन्द के सहाध्यायी थे। अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् ये भी स्वगुरु दण्डी जी की भांति अध्यापन कार्य में लग गये। स्वामी दयानन्द से इनकी आत्मीयता जीवन पर्यन्त रही। स्वामी जी ने किसी व्यक्ति से कहकर इन्हें ३०० रुपयों की सहायता दिलवाई जिस से इनका पक्का मकान बना। मथुरा निवास के पश्चात् भी स्वामी जी और चौबे जी का पत्र व्यवहार चलता था। यह पत्रावली उनके पुत्र पं० विदुरदत्त के पास रही जो प्रकाश में न आ सकी। गंगादत्त के शिष्य पं नवनीत चतुर्वेदी ब्रज भाषा के प्रसिद्ध कवि थे। उन्होंने स्वगुरु के विषय में एक पद्य लिखा जिसमें उन्होंने पं गंगादत्त को सकल शास्त्र धुरीण तथा वेद वेदांग ज्ञाता कहा है। (पृष्ठ—४२)

६. सेठ राधाकृष्ण ने अपने गुरु के अनुकूल काशी के पण्डितों से व्यवस्था लिखवाने में ३ लाख रुपया व्यय किया था। यह तथ्य लक्ष्मण शास्त्री ज्योतिषी के भतीजे पं मूलचन्द्र ने १९४६ में प्रो. भीमसेन शास्त्री को बताया था। ध्यातव्य है कि सेठ राधाकृष्ण ने लक्ष्मण शास्त्री को ही इस कार्य के लिए काशी भेजा था। प्रसिद्ध कवि नवनीत चतुर्वेदी ने इस शास्त्रार्थ का उल्लेख करते हुए निम्न पद्य लिखा—

वृन्दावन बीच रंगाचारी रंग मन्दिर में
ताको शिष्य लल्लू लाल विप्र अभिमानी भो।
'नवनीत' तासों गगादत्त को विवाद छिड़यो
अधिकरण षष्ठी तत्पुरुष प्रमानी भो॥

पुनः सेठ राधाकृष्ण द्वारा काशी से झूठी व्यवस्था लाने तथा दण्डी जी द्वारा मथुरा के कलेक्टर से शिकायत करने का उल्लेख कवि नवनीत ने इस प्रकार किया—

दक्षिणा दे सेठहु ने सम्मति कराई झूठीं
विद्यावाद वाराणसी पुरी वेदवानी भो।
आगरे कलेक्टरी न्याय ना मिल्यौ तौ
प्रज्ञाचक्षु हु प्रतिज्ञा काज उद्यत अमानी भो॥

वस्तुतः दण्डी जी ने मथुरा के कलेक्टर से सेठ राधाकृष्ण के दुर्व्यवहार की शिकायत की थी। (पृष्ठ—४६)

(८) पाणिनि प्रचार

१. संस्कृत व्याकरण साहित्य में परिभाषेन्दुशेखर और शब्देन्दुशेखर नामक दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। (पृष्ठ—४८)

२. भले ही यह घटना निर्मूल ही क्यों न हो, किन्तु दण्डी जी के जीवन-चरित्रों में इसका प्रायः उल्लेख आता है। एक ऐसा ही जीवन चरित्र जब हिन्दी की विश्रुत पत्रिका सरस्वती के स्वनामधन्य सम्पादक पं महावीर प्रसाद द्विवेदी के पास समीक्षार्थ भेजा गया तो उन्होंने अपनी समालोचना में दण्डी जी की इस असहिष्णुता की कटु आलोचना की। परिणाम यह हुआ कि तत्कालीन आर्य समाजी पत्रों में आचार्य द्विवेदी की कठोर टीका की गई। इससे खिन्न होकर सरस्वती सम्पादक द्विवेदी जी ने भी घोषणा कर दी कि भविष्य में वे किसी आर्य समाजी पुस्तक की समीक्षा नहीं लिखेंगे। (पृष्ठ—४९)

३. अष्टाध्यायी अ. २ पाद ३ सूत्र ६५ (पृष्ठ—४९)

४ पं मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या—(१८५०—१९१२)

पण्ड्याजी के पिता पं० विष्णुलाल मथुरा के सेठ लक्ष्मीचंद के यहां मुनीमी का कार्य करते थे। उन्होंने कुछ काल तक ही दण्डीजी की पाठशाला में अध्ययन किया होगा। बाद में वे सेण्ट जॉन्स कालेज आगरा तथा बनारस की क्वींस कालेज

और जयनारायण कालेज में पढ़े। १८७७ में वे उदयपुर में स्टेट कौंसिल के सदस्य तथा मंत्री बने। स्वामी दयानन्द ने उन्हें स्वयं की स्वत्त्वाधिकारिणी परोपकारिणी सभा का सदस्य एवं उपमन्त्री मनोनीत किया था। (पृष्ठ—५१)

(९) अनार्ष ग्रन्थ खण्डन और आर्षग्रन्थ

१. सत्यार्थप्रकाश में यह तत्र वचन निम्न पाठ भेद से मिलता है—
एकैव शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥ (पृष्ठ—५५)

२ गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित श्रीमद्भागवत में यह श्लोक विभक्त रूप में दो स्थानों पर इस प्रकार मिलता है—

क्वापि संध्यामुपासीनं जपन्तं ब्रह्म वाग्यतम् ॥ (११/६९/२५)
ध्यायन्तमेकमासीनं पुरुषं प्रकृतेः परम् ॥ (११/६९/३०) (पृष्ठ—६१)

३. वाग्यत का अर्थ-मौन होकर। यहां ब्रह्म का अर्थ गायत्री से लिया गया है। (पृष्ठ—६१)

४. इस ग्रन्थ का नाम पाणिनीय सूत्रार्थप्रकाश था। (पृष्ठ—६६)

५ यह ग्रन्थ परिभाषेन्दुशेखर के खण्डन में लिखा गया था। (पृष्ठ—६६)

६. एक अनुश्रुति के अनुसार पाणिनीय सूत्रार्थप्रकाश तथा वाक्य मीमांसा की ये पाण्डुलिपियां दण्डी जी के शिष्य पं उदय प्रकाश के पास रहीं। वहां से पं० अखिलानन्द शर्मा ने इनकी प्रतिलिपि प्राप्त की। पं० अखिलानन्द की प्रतियों से स्व० पं० हरिदत्त शास्त्री ने इनकी प्रतिलिपियां तैयार कीं। कहते हैं कि ये दोनों प्रतियां अब सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के पास हैं। (पृष्ठ—६६)

(१०) विरजानन्द की अध्ययन प्रणाली

१. पं० घासीराम ने इस प्रसंग पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—देवेन्द्र बाबू की सम्मति कुछ हो, परन्तु हमारी सम्मति में ये दोनों बातें ऐसी नहीं हैं जिनसे दण्डी जी के चरित में कुछ दोष आता हो। यह असम्भव नहीं है कि दण्डी जी कभी-कभी भृत्यादि की अनुपस्थिति में दयानन्द से यमुना से जल मंगवा लेते हों। रही यह बात कि विरजानन्द ने दयानन्द को मारा था या नहीं, यह भी कोई असम्भव बात नहीं है। विरजानन्द क्रोधशील तो थे ही।"

—महर्षि दयानन्द का जीवन चरित भाग १ पृ०—९९(१९५८ ई०)
(पृष्ठ—७० टि०)

(११) सार्वभौम सभा का प्रस्ताव

१ पं० लेखराम के अनुसार महाराजा राम सिंह ने इस अवसर पर दण्डी जी को २०० रुपये, दो स्वण मुद्रा तथा एक दुशाला भेंट किया। (पृष्ठ—७७)

(१२) भारतवर्ष के सुधार की प्रणाली में परिवर्तन

१. पञ्चमकारों का प्रतिपादन करने वाले तंत्र ग्रन्थों को शिवप्रोक्त कहा गया है। (पृष्ठ—८९)

२. श्रीमद्भागवत स्कन्ध १० अध्याय २२ (पृष्ठ—८९)

३. श्रीमद्भागवत स्कन्ध १० अध्याय ३३ श्लोक ३० (पृष्ठ—९०)

४. श्रीमद्भागवत स्कन्ध १० अध्याय ३३ श्लोक ३२ (पृष्ठ—९०)

५. चैतन्य को ही बंगाल में गौरांगदेव कहा जाता है। (पृष्ठ—९२)

(१३) दयानन्द सरस्वती को भारतवर्ष के सुधार का भारार्पण

१. यह दुर्भिक्ष १ ६०—६१ के वर्ष में पड़ा था। (पृष्ठ—९५)

२. जोशी अमरलाल (१८९७ वि.—१९४१ वि.) विस्तृत परिचय के लिए देखें—महर्षि दयानन्द के भक्त, प्रशंसक और सत्संगी ले डा. भवानीलाल भारतीय (पृ० १—३) (पृष्ठ— ९६)

३. द्रष्टव्य—सत्यार्थ प्रकाश की समाप्ति पर लिखी गई पुष्पिका—इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्याणां परमविदुषां श्री विरजानन्द सरस्वती स्वामिनां शिष्येण आदि। (पृष्ठ—९९)

४. स्वामी दयानन्द ने वेद का अध्ययन स्वतः ही, स्वोपज्ञ भाव से किया था। उन्होंने अपने द्विवर्षीय आगरा निवास काल में वेदों का विशिष्ट विचार किया था। (पृष्ठ—९९)

(१४) विरजानन्द संक्रान्त कुछ आख्यायिकाएं

पं० गट्टू लाल वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी, शतावधानी किन्तु चक्षुहीन विद्वान् थे। कालान्तर में जब स्वामी दयानन्द का मुम्बई में आगमन हुआ तो उनका पं. गट्टूलाल से अनेक बार शास्त्रीय वाद विवाद हुआ था। (पृष्ठ—१०१)

परिशिष्ट (४)

दण्डी विरजानन्द का माथुर (मथुरा निवासी) शिष्य मण्डल

प्रो० भीमसेन शास्त्री के अनुसार :

अंगदराम (बदरिया ग्राम) पं० युगल किशोर, गंगादत्त चौबे, रंगदत्त चौबे, देवीदत्त, केशव देव, राम रत्न, दीनबंधु, शिवलाल, हरिकृष्ण, बलदेव, मदन जी, उदयप्रकाश, गणेशजी, शुकदेव, झबोलजी, मूरमुरिया (मूड़ मुड़िया), मदनदत्त, फलाहारी, भट्ट रमेश नन्दन जी, वासुदेव शास्त्री, शीलचंद, भगवान्, अमरनाथ औदीच्य, रघुनाथ फुले, मुकुन्दराम, जगन्नाथ चौवे, दामोदर दत्त सनाढ्य, चिरंजीवीलाल, गरुड़ध्वज, रामचन्द्र सनाढ्य, व्रज किशोर, गोपालदत्त, श्याम सुन्दर, पुरुषोत्तम, बनमाली, सोहन लाल, श्याम लाल पाण्डे, गोपी नाथ दक्षिणी, पुण्डरीक, सोमनाथ चौवे, गया प्रसाद, चेतलाल, मोहन लाल, विष्णु लाल पण्ड्या, सर्वोपरि दयानन्द सरस्वती।

स्वामी वेदानन्द तीर्थ ने दण्डी जी के विद्यार्थियों को कौमुदी काल के तथा आर्ष युग के छात्रों में द्विधा विभक्त किया है।

कौमुदी काल—अंगदराम, रंगदत्त चौवे, गंगादत्त चौवे, चिरंजीव लाल आदि।

आर्ष युग के छात्र—गोपाल ब्रह्मचारी, युगल किशोर, सोहन लाल, नन्दन चौवे, श्याम लाल पाण्डेय, गरुड़ ध्वज, बनमाली चौवे, दीन बन्धु, उदयप्रकाश तथा दयानन्द सरस्वती।

सन्त लाल दाधिमथ के श्रीमद्विरजानन्द दर्शन काव्य में निम्न शिष्यों का भी उल्लेख हुआ है—हरिकृष्ण, बनवारी लाल (इनका नाम बनमाली था) गणेशीलाल, (गणेश का नाम उपर्युक्त सूची में आ चुका है)।

विशेष—उपर्युक्त शिष्यों में दयानन्द सरस्वती तथा गंगादत्त चौवे अपूर्व वैयाकरण थे। गंगादत्त के विषय में यह श्लोक मिलता है—

> पलायध्वं पलायध्वं भो भो दिग्गजतार्किकाः।
> गंगादत्तः समायातो वैयाकरणकेसरिः॥

हे दिग्गज तार्किको, तुम भाग जाओ, अब वैयाकरण केसरी गंगादत्त आ गया है।

परिशिष्ट (५)

ब्रजभाषा के कवि प० नवनीत चौबे द्वारा रचित दण्डी विरजानन्द जी की प्रशंसा में लिखे गये पद—

विरजा किनारे वसि ब्रज जन दीक्षा दई,
पूर्णानन्द गुरुसों समग्र ज्ञान पायो हो।
नवनीत सुवन सरस्वती पुलिन जन्म
जन्म अंध विरजू सात वर्ष का सिधायो हो।
योग तप बल ते अधीत वेद वेद अंग
संग शिवानन्द ब्रह्मचारी मित्र पायो हो।
संवत् अठारह सो तेरह में कृष्णानन्द
सामवेदी दण्डी घाट ही को बनवायो हो॥

टिप्पणी—उक्त पद से यह जानकारी मिलती है कि दण्डी जी ने यमुना नदी के किनारे अपना निवास बनाया और ब्रज देश वासी लोगों को ज्ञान दीक्षा दी। उनके गुरु स्वामी पूर्णानन्द थे। सरस्वती (कोई) नदी के किनारे उनका जन्म हुआ। वे जन्मान्ध थे (यह सत्य नहीं है) तथा उन्होंने सात वर्ष की आयु में गृहत्याग किया। योग साधना से उन्होंने वेद वेदांगों का अध्ययन किया। शिवानन्द ब्रह्मचारी (?) उनके मित्र थे। सामवेदी कृष्णानन्द ने सं १८१३ में यमुना का दण्डी घाट बनवाया।

उन्नत ललाट बल बहुल विशाल मुण्ड
अक्षजाल माल भव्य चन्दन त्रिपुण्डी ने।
नवनीत प्यारे पर पच्छगिरि पच्छनपै
वज्राघात डिंडिम नाम खल खण्डी ने।
सम्प्रदायवाद वेद विहित विवर्जित पै
सासन विदेशिन को नासन प्रचण्डी ने।
गोरे के अगारी उद्दण्ड भै उठाय दण्ड
बण्ड ह्वै प्रतिज्ञा करी प्रज्ञाचक्षु ने॥

टिप्पणी—इस कवित्त में कवि ने दण्डी जी के तेजस्वी व्यक्तित्व का ओजस्वी वर्णन किया है। विरजानन्द का उन्नत ललाट है, वे बलशाली तथा विशाल भव्य मूर्ति हैं। उनके गले में रुद्राक्ष माला तथा ललाट पर चन्दन का त्रिपुण्ड् शोभा देता है। दुष्टों का दमन करने वाले दण्डी जी के तर्क जाल विरुद्धपक्ष वाले पर्वतों पर इन्द्र के वज्राघात के तुल्य गिरते हैं। उन्होंने वेद विहित धर्म का प्रतिपादन

करते हुए सम्प्रदायवाद का खण्डन किया तथा विदेशी शासन को उन्मूलित करने के लिए उद्योग किया। गोरे शासकों के लिए उद्दण्ड होकर उन्होंने दण्ड धारण किया तथा प्रज्ञाचक्षु दण्डी जी ने विदेशी शासन को नष्ट करने की प्रचण्ड प्रतिज्ञा की।

विशेष—इस पद में दण्डी जी का एक और रूप दिखाई देता है। यहां उन्हें विदेशी शासन का विरोध करने वाले एक क्रान्तिकारी के रूप में चित्रित किया गया है।

आप मथुरा में शिष्य मण्डली बुलाय लीनी
आपने हिय के भाव कहि समुझा गये।
कवि नवनीत मथुरा के सम्प्रदायवादी
सुन सुन वचन सकुचि सरमा गये।
गंगादत्त है जो रंगाचारी मत खण्डन ते
पुस्तक रंगोक्ति परिभावन बना गये।
दयानन्द ही ने चर्ण पादुका पकरि लीनी
दया कर दर्शन के दर्शन करा गए॥

टिप्पणी—मथुरा में आकर विरजानन्द द्वारा शिष्य मण्डल का गठन करने और उन्हें अपने हार्दिक मन्तव्य को बताने की बात इस पद में कही गई है। दण्डी जी के वचनों को सुनकर सम्प्रदायवादियों का संकुचित होना तथा शिष्य गंगादत्त द्वारा रंगाचार्य के मत के खण्डन में 'रंगोक्ति परिभावन' नामक पुस्तक लिखने का संदर्भ भी इस पद में है। अन्ततः कवि के अनुसार दयानन्द ने गुरुचरणों की शरण गही तो आचार्य चरण ने उन्हें दर्शन शास्त्र का अभिप्राय स्पष्ट कर दिया। ध्यातव्य है कि दण्डीजी से दयानन्द ने वेदान्त दर्शन का अध्ययन किया था।

(पं० पद्मसिंह शर्मा लिखित निबंध संग्रह पद्मपराग से साभार)

परिशिष्ट—६

दण्डी स्वामी विरजानन्द सरस्वती : जीवनी साहित्य

	(अ) हिन्दी जीवन चरित	लेखक	प्रकाशक	प्रकाशन काल— संस्करण
१	श्री स्वामी विरजानन्द सरस्वती दण्डीजी का जीवन चरित्र (उर्दू मूल)	मू० ले० लेखराम आर्य पथिक अनु० जगदम्बा प्रसाद मुन्शी	वैदिक पुस्तकालय, लाहौर	१८९९ ई० प्रथम संस्करण १९७८ वि० द्वितीय संस्करण
२	,,	,,	वैदिक पुस्तकालय, मुरादाबाद	१९७० वि० १९१३ ई०
३	दयानन्द चरित (बंगला से अनूदित)	मू० ले० देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय अनु० पं० घासीराम	आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रांत, लखनऊ	१९१९ ई० प्रथम संस्करण
४	,,	,,	आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश, लखनऊ	२०११ वि० द्वितीय संस्करण
५	,,	,, सं० —डा० भवानीलाल भारतीय	श्री गुरु विरजानन्द स्मारक समिति ट्रस्ट, करतारपुर	२०४९ वि० १९९२ ई० तृतीय संस्करण
६	स्वामी विरजानन्द सरस्वती का जीवन चरित	स्वामी वेदानन्द तीर्थ	वैदिक साहित्य सदन, दिल्ली	२०११ वि० १९५४ ई०
७	,,	,,	मधुर प्रकाशन, दिल्ली	१९७० ई० (प्र. सं.) १९८६ ई० (द्वि. सं.)
८	,,	,,	विरजानन्द शोध संस्थान, गाजियाबाद	२०३० वि० १९७३ ई०
९	विरजानन्द प्रकाश	सम्पादक—पं० उदयवीर शास्त्री भीमसेन शास्त्री	प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, दिल्ली	२०१६ वि० १९५९ ई० (ऋषि दयानन्द का दीक्षा शताब्दी वर्ष)

१०	,,	,,	रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर	२०२६ वि०
११	,, सुखदेव विष्णुदयाल स्मृति संस्करण	,,	जी गंगाराम पोर्ट लुईस मॉरिशस	२०३५ वि०
१२	गुरु विरजानन्द	त्रिलोकचन्द्र विशारद	गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली	आर्य चरित माला— १ कई सं.)
१३	,,	,,	,,	वेद प्रकाश माला—१८
१४	आदर्श गुरु शिष्य	रघुनाथप्रसाद पाटक	सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा नई दिल्ली	२०१६ वि० १९५९ ई० (दयानन्द दीक्षा शताब्दी के अवसर पर)
१५	गुरुवर स्वामी विरजानन्द सरस्वती	,,	,,	२०१६ वि० १९६९ ई० विरजानन्द निर्वाण शताब्दी के अवसर पर)
१६	गुरु विरजानन्द एक सरल परिचय	ईश्वरीप्रसाद प्रेम	सत्य प्रकाशन, मथुरा	१८७१ ई० (दण्डी जी के चित्रांकित डाक टिकट के प्रकाशन के अवसर पर)
१७	विरजानन्द परिचय	स्वामी विज्ञानानन्द सरस्वती	वैदिक भक्ति साधना आश्रम, रोहतक	२०२७ वि० १९७० ई०
१८	क्रान्तिकारी युगपुरुष गुरु विरजानन्द	पं० निरंजनदेव इतिहास केसरी	आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब	१९७५ ई० (आर्य समाज स्थापना शताब्दी के अवसर पर)
१९	,,	,,	,,	१९८३ ई० (ऋषि दयानन्द निर्वाण शताब्दी के अवसर पर)
२०	दण्डी विरजानन्द का जीवन चरित	मुकन्ददेव गोस्वामी	अप्रकाशित	

		लेखक	प्रकाशक	प्रकाशन काल—संस्करण
	(आ) उर्दू जीवन चरित			
१	स्वामी विरजानन्द का जीवन चरित	पं० लेखराम आर्य पथिक	आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब, लाहौर	१७९७ ई० (महर्षि दयानन्द सरस्वती के उर्दू जीवन चरित का एक अध्याय)
२	,,			
३	विरजानन्द सरस्वती	,,	,,	पृथक् पुस्तकाकार प्रकाशित
४	ख्वानेहू ऊमरी स्वामी विरजानन्द सरस्वती	रामलाल सम्पादक उर्दू मिलाप सुखदयाल	लाहौर	१९०२ ई०
	(इ) काव्य ग्रन्थ (हिन्दी-संस्कृत)			
१	विरजानन्द विजय (सचित्र)	विधाभूषण 'विभु'	दयानन्द जन्म शताब्दी सभा मथुरा	१९८१ वि०
२	श्रीमद्विरजानन्द दर्शन	सन्तलाल दाधिमथ	सरस्वती सदन, लुधियाना	१९८२ वि०
३	ब्रह्मर्षि विरजानन्द चरितम्	मेधाव्रताचार्य अनु० वेदव्रत भाष्याचार्य	विश्वम्भर वैदिक पुस्तकालय गुरुकुल, झज्जर	२०१२ वि० १९५६ ई०
	(ई) गुजराती जीवन चरित			
१	गुरु चरित्र	बाला भाई जमनादास वैश्य	अहमदाबाद	१९०५ ई०
२	महर्षि विरजानन्द जी	त्रिभुवनदास वर्मा		२००३ वि०
३	,, (पद्यात्मक)	,,	आर्य सेवा संघ, सूरत	२०२० वि० १९६४ ई०
४	विरजानन्द चरित्र	,,		
	(उ) अंग्रेजी जीवन चरित			
१	स्वामी विरजानन्द सरस्वती	हरविलास शारदा	वैदिक यंत्रालय, अजमेर	१९४४ ई०
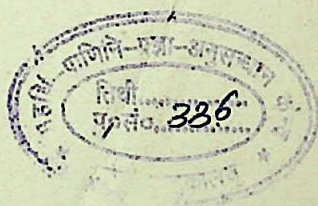
एक दृष्टि में—

श्री गुरु विरजानन्द स्मारक स

करतारपुर-144801, जिला-जालन्धर (पं

1. स्थान गौरव—आर्य समाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द
दण्डी विरजानन्द जी की पुण्य जन्म स्थली।

2. स्थापना एवं दानदाता—लाहौर निवासी परम ऋषिभक्त
आर्य द्वारा 52000/- रुपये की पवित्र राशि से 2
तदनुसार 10 मार्च 1956 को स्मारक भवन का शिलान्
आत्मानन्द जी के कर कमलों से हुआ।

3. ट्रस्ट का निर्माण एवं पंजीकरण—चारों वेदों का यज्ञ करते हुये 16 फरवरी 1966 को पूज्य महात्मा प्रभु आश्रित जी महाराज की अध्यक्षता में ट्रस्ट के निर्माण का निश्चय हुआ तथा 23 अगस्त, 1966 को ट्रस्ट का विधिवत् पंजीकरण हुआ।

4. महात्मा प्रभु आश्रित यज्ञशाला—दुर्भाग्यवश 16 मार्च 1967 को महात्मा जी का स्वर्गवास हो गया, 1969 में उनकी पवित्र स्मृति में यज्ञशाला का निर्माण हुआ।

5. ट्रस्ट के उद्देश्य—वैदिक धर्म के प्रचारार्थ निष्ठावान् राष्ट्रभक्त, चरित्रवान् योग्य विद्वान् उत्पन्न करना, सर्वथा निःशुल्क गुरुकुल चलाकर ब्रह्मचारियों को विद्याध्ययन कराना, संस्कृत-हिन्दी का प्रचार प्रसार तथा वैदिक-संस्कृति का पुनरुत्थान करना आदि।

6. संचालित शिक्षण संस्था—श्री गुरु विरजानन्द गुरुकुल, करतारपुर-144801, जिला-जालन्धर।

7. शिक्षण संस्था का वैशिष्ट्य - ब्रह्मचारियों को शुद्ध-घी-दूध-लस्सी प्राप्त कराने के लिए अपनी गऊशाला, हिन्दी टाईपिंग व संगीत सीखने की सुविधा, शुद्ध वातावरण, दोनों समय यज्ञ सन्ध्या, योग्य अध्यापक, उत्तम परीक्षा परिणाम, भोजन-आवास-दूध-शिक्षा सर्वथा निःशुल्क, अति निर्धन छात्रों को वस्त्र-पुस्तकादि की भी निःशुल्क सुविधा।

8. आय का साधन—वैदिक संस्कृति तथा संस्कृत की रक्षा के व्रती दानी महानुभावों के द्वारा प्राप्त दान मात्र।

9. आयकर की छूट—इस ट्रस्ट को दिया गया दान भारतीय आयकर की धारा 1961—80G के अर्न्तगत कर मुक्त है।

10. अपील—यह ट्रस्ट आपके सहयोग से ही निरन्तर प्रगति पर है, योग्य छात्रों को प्रवेश कराकर तथा दान आदि द्वारा अपना सहयोग अवश्य दें।